AA Jhgfj% AA

Hkxorikflr eHkkodh i/kkurk

¼ fgUnh ½

॥ श्रीहरिः ॥

विषय सूची

विषय		पृष्ठ
१.	भगवत्प्राप्तिमें भावकी प्रधानता	१
२.	कर्तव्य-पालन एवं दूसरोंके अधिकारकी रक्षा	१५
३.	निष्कामभावकी सूक्ष्मता	३२
४.	सत्संगका रहस्य	४१
५.	महात्मासे कैसे लाभ उठावें	५१
६.	पात्रता एवं श्रद्धा	५६
७.	सगुण-साकार भगवान्‌का दर्शन एवं प्रभाव	७१
८.	महत्त्वपूर्ण बात	८८
९.	मनुष्य-जीवनकी सफलताका उपाय	१०५
१०.	वीरताका रहस्य	१२०
११.	कल्याण-प्राप्तिका सरल साधन	१२९
१२.	भगवान् एवं महात्माका प्रभाव	१३५
१३.	साधन तीव्र करनेके लिये प्रेरणा	१४३
१४.	भगवत्स्मृतिकी महिमा	१५३

भगवत्प्राप्तिमें भावकी प्रधानता

प्रत्येक प्राणीके प्रति अपना भाव अच्छा रखना चाहिये, अपनी प्रत्येक क्रियामें भाव अच्छा रखना चाहिये, प्रत्येक पदार्थमें भी अपना भाव अच्छा रखना चाहिये। अपना साधन भी बहुत उत्तम भावयुक्त होना चाहिये। यदि नाम-जप भावसे किया जाय तो परमात्माकी प्राप्ति बहुत जल्दी हो सकती है। परमात्माके स्वरूपका ध्यान भी यदि भावयुक्त होकर किया जाय तो उससे भी बहुत जल्दी परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। इसी प्रकार अपने नित्यकर्म यदि भाव-सहित किये जायँ तो उनसे बहुत ज्यादा लाभ हो सकता है।

प्रत्येक यज्ञोपवीतधारीको नित्यप्रति शुक्ल यजुर्वेदके ४० वें अध्याय (ईशावास्योपनिषद्)-का या ३१ वें अध्याय (पुरुषसूक्त)-का अर्थ और भावसहित पाठ करनेसे यज्ञोपवीती होनेकी सफलता प्राप्त हो जाती है। ऐसे ही नित्य प्रातः और सायं संध्या एवं गायत्री-मन्त्रका जप यदि भावयुक्त होकर किया जाय तो बहुत ज्यादा लाभ हो सकता है। गायत्री-मन्त्रमें भगवान्‌की स्तुति (गुणगान) एवं उनके स्वरूप और ध्यानका वर्णन है तथा भगवान्‌से आत्माके कल्याणकी प्रार्थना है। एक ही मन्त्रमें स्तुति, ध्यान और प्रार्थना भी है। ऐसे मन्त्र वेदोंमें बहुत कम हैं। इसीलिये सभी मन्त्रोंमें गायत्री-मन्त्रको उत्तम माना गया है। अतः गायत्री-मन्त्रका जप यदि अर्थ और भाव समझकर किया जाय तो 'गायत्री-मन्त्र'से ही परम कल्याण हो सकता है। महाभारतके शान्तिपर्वमें गायत्री-मन्त्रके जपकी एक कथा आती है—

पिप्पलाद-वंशमें एक तपस्वी ब्राह्मण था। उसने गायत्री-मन्त्रका जप किया तो गायत्रीने प्रकट होकर दर्शन दिया। जब उसका मृत्युकाल आया तो मृत्यु, काल और यमराज सब उसके आश्रममें उपस्थित हुए; किंतु उनमें यह शक्ति नहीं थी कि उसके प्राणोंको निकालकर ले जा सकें। गायत्री-मन्त्रके जपसे गायत्री देवी खुश हुईं और बोलीं कि तू वरदान माँग। उसने कहा कि मुझे गायत्री-मन्त्रका जप ही सबसे बढ़कर लगता है, अतः मैं जप ही करता रहूँ। उसके जपको देखकर राजा इक्ष्वाकु भी वहाँ पहुँचे और बोले कि आप मुझसे कोई चीज माँग लें, मैं आपको देनेके लिये तैयार हूँ। इसपर उसने कहा—'राजन्! आपको मुझसे कुछ माँगना हो तो माँग लें, मैं अपने तपके बलसे सब कुछ दे सकता हूँ।' (तात्पर्य यह है कि अगर वे तपस्वी ब्राह्मण चाहें तो ब्रह्मा और शिवकी पदवी भी दे सकते हैं।) राजाने कहा कि 'आप अपने गायत्री-मन्त्र-जपके तपरूप फलको दे दें।' तब ब्राह्मणने कहा—'लो, दे दिया।' फिर वे इन्कार करने लगे कि मैं क्षत्रिय हूँ, आप ब्राह्मण हैं। दान लेना मेरा काम नहीं। ब्राह्मणने कहा—अगर दान नहीं लेना था तो तुमने माँगा क्यों? अब तो मैंने कह दिया, इसलिये तुम्हें लेना ही होगा। न्याय करवाया गया तो धर्मराजने यही न्याय किया कि आप बोलकर बँध गये, अब आपको लेना ही पड़ेगा। राजाको लेना पड़ा। पर लेनेसे दोनों ब्रह्मलोकको गये और ब्रह्माके शरीरमें प्रवेशकर ब्रह्मतेजको प्राप्त हो गये।

इसी तरह संध्याका बड़ा भारी प्रभाव बताया गया है। संध्या-वन्दन सूर्यकी उपासना है। जरत्कारु ऋषि सूर्यकी उपासना किया करते थे। जबतक उनकी उपासना पूरी नहीं हो जाती, उनके प्रभावसे सूर्य अस्ताचलको नहीं जाते थे। एक दिन सूर्यास्तका समय हो गया। उस समय वे सो रहे थे। उनकी स्त्रीने उन्हें जगा दिया और कहा कि सूर्य

अस्त होनेवाले हैं, आप उठें, कहीं आपका नियम-भंग न हो जाय। इसपर वे बोले—मेरा नियम कैसे भंग होगा? जबतक मैं सूर्यको अर्घ्य नहीं दूँगा, तबतक सूर्य अस्ताचल कैसे चले जायँगे? तुमने मेरे प्रभावको बिना जाने ही मुझे उठा दिया। (यह कथा महाभारतके आदिपर्वमें आती है।) सूर्योदयसे सूर्यास्ततक न जाने कितनी बार हमें सूर्यकी स्मृति हो जाती है कि देखें, कहीं सूर्य अस्त तो नहीं हो गया—हमें संध्या करनी है। इस प्रकारकी स्मृति उनकी उपासना ही है। इस उपासनासे सूर्यभगवान्‌पर असर पड़ता है कि यह संध्योपासनाके ठीक समयपर मुझे याद कर लेता है; यह मेरा उपासक है। संध्याके मन्त्रोंकी विधि है, उस विधिका अर्थ समझें कि प्रत्येक मन्त्रमें क्या बात है? प्रत्येक मन्त्रमें चार बातें हैं कि यह अमुक छन्द है, इसका अभिप्राय यह है। छन्दका ज्ञान होना चाहिये और उस छन्दके अनुसार ही मन्त्रका उच्चारण करना चाहिये। यह एक नम्बरकी बात है। इस प्रकार करनेसे वह उच्चारण शुद्ध माना जाता है। शुद्ध उच्चारण करनेसे ही उन मन्त्रोंका विशेष लाभ होता है। उस मन्त्रमें जिस देवताकी उपासना, स्तुति-प्रार्थना या ध्यान है उस देवताका ज्ञान होना चाहिये। मान लो मन्त्र तो है ब्रह्माजीका और उपासना कर रहे हैं शिवजीकी तो शिवजी महाराज समझेंगे कि यह मूर्ख आदमी है। हम मन्त्र तो देवीके सामने बोल रहे हैं और मन्त्र है विष्णुभगवान्‌का, यह व्यतिक्रम नहीं होना चाहिये। अतः जिस देवताकी उपासना उसमें है, उसी देवताका ध्यान और पूजा आदि करनी चाहिये। यह दूसरी बात है। तीसरी बात है—ऋषि यानी इस मन्त्रका ऋषि कौन है? मन्त्रके भाव, अर्थ तथा रहस्यको जिस ऋषिने प्रथम जाना, वही उसका ऋषि है—'**मन्त्रद्रष्टारो ऋषयः।**' ऋषिकी स्मृति होनेसे ऋषि प्रसन्न होते हैं। चौथी बात है—यह मन्त्र इस जगह किस विषयमें प्रयोग करनेके लिये है, उस विषयका ज्ञान

होना चाहिये। जैसे गायत्री-मन्त्रका सूर्य भगवान्‌को अर्घ्य देते समय, प्राणायाम करते समय तथा माला जपते समय प्रयोग करते हैं। मन्त्रका विषय समझकर प्रयोग किया जाय तो विशेष लाभ होता है। मन्त्रका अर्थ और विधि समझकर संध्या की जाय तो उस संध्याका बड़ा भारी माहात्म्य है। हम सब लोग संध्या करते हैं, किंतु इस बातको ठीकसे समझते नहीं, इसलिये उसका पूरा फल नहीं होता। जैसे एक आदमी हलवा बनाना चाहे। घीसे आटा सेककर पानी मिलाकर चीनी डालनी चाहिये, पर वह आदमी मूर्खतासे आटा डालनेकी जगह चीनी डाल दे। घीसे चीनी सेंके तो चीनी तो गलेगी नहीं। हलवाकी जगह कोई और चीज बनेगी। इसी प्रकार यज्ञोपवीतधारीको इन तीन बातोंका पालन करना चाहिये—(१) अर्थ और भावसहित संध्योपासन, (२) गायत्री-जप, (३) वेदमन्त्रका पाठ—जो अध्याय बहुत महत्त्वपूर्ण हो उसका पाठ। जैसे मैंने आपको ईशावास्योपनिषद् एवं पुरुषसूक्त बताया। पूरे अध्यायका, नहीं तो आधे अध्यायका, जितना हो सके उतनेका ही पाठ करे। यदि उसका अर्थ, भाव, तत्त्व, रहस्य समझकर करे तो इतना समय ही नहीं लगेगा, उसका जीवन बहुत जल्दी ही बदल जाना चाहिये। जिनका यज्ञोपवीत हो गया है वे संध्या, गायत्री तो करते ही होंगे। अगर नहीं करते तो करनी चाहिये। अन्यथा उनके लिये प्रायश्चित्त है। ब्राह्मण होकर यदि संध्या नहीं करे तो शास्त्रानुसार ब्राह्मणोंको चाहिये कि उस संध्याविहीन व्यक्तिको ब्राह्मण-जातिसे निकाल दें यानी जातिसे बहिष्कृत कर दें। यही उसके लिये प्रायश्चित्त है। इसी तरह पाठकी बात है। जैसे गीता-रामायणका पाठ है। पाठ करते समय उनका अर्थ और भाव समझना चाहिये और उसे अपने हृदयमें धारण करना चाहिये। इस प्रकार करनेसे गीताजीका एक श्लोक ही उसका कल्याण कर देगा और यदि कोई प्रतिदिन भाव और अर्थ समझकर

एक अध्यायका पाठ करे और उसे धारण करता जाय तो उसकी बात ही क्या है? पाठ करते समय यदि नींद आ जाय तो उस पाठका विशेष महत्त्व नहीं है। पाठ तो करता है पर अर्थका ज्ञान नहीं, भावकी बात तो दूर रही। शब्दार्थका भी ज्ञान नहीं तो उसको साधारण लाभ ही होना चाहिये। न्याय तो यही बात कहता है। उसका भाव समझकर मुग्ध होता रहे तो प्रत्यक्षमें भी आनन्द होता है और परिणाम-स्वरूप उसे बहुत शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

गीताजीमें ऐसे सैकड़ों श्लोक हैं, जिनमेंसे हम लोग अगर एक भी श्लोक धारण कर लें तो अपने उद्धारमें कोई शंकाकी बात नहीं। इसी प्रकार भगवान्‌की मानसिक पूजाके विषयकी बात है। अपने इष्टदेवका—चाहे भगवान् श्रीराम, श्रीकृष्ण, विष्णु या शिव कोई भी हों, उनके स्वरूपका मनमें ध्यान करे और सारी सामग्री जो कि मानसिक है—प्रत्यक्ष तो है नहीं—उससे भगवान्‌की पूजा करे। जिस शरीरसे करे वह भी मानसिक है और सब क्रिया मानसिक है ही। इस प्रकार भगवान्‌का स्वरूप, पूजाकी सामग्री और करनेवालेका शरीर तथा भगवान्‌की सारी क्रियाएँ—सभी मानसिक हैं। अतः पूजा करनेके समय इस भावसे करे कि प्रत्यक्षमें ही भगवान् पधारे हैं और मैं भगवान्‌की मूर्तिकी नहीं वरन् प्रत्यक्षमें ही उनकी पूजा कर रहा हूँ। भगवान्‌का जो स्वरूप है, वह भी मन्दिरमें मूर्तिकी तरह नहीं बल्कि प्रत्यक्ष ही है। भगवान् प्रत्यक्षमें आते तब जैसा सत्कार करते वैसा ही सत्कार हम कर रहे हैं। बढ़िया-से-बढ़िया पूजाकी सामग्री लाये और दक्षिणा भी बहुमूल्य चढ़ाये। पूजाकी सामग्री उत्तम सुगन्धित द्रव्योंसे परिपूर्ण हो। धूप दें या तिलक करें, वे सुगन्धित सामग्रियाँ बढ़िया-से-बढ़िया और कीमती-से-कीमती लायें। पुष्प भी चढ़ायें तो वैसा जैसा नन्दनवनके बगीचेका पुष्प है और सोनेके रंगका-सा है। सोनेका है और सुगन्ध भी आये। सोनेमें

सुगन्ध तो नहीं मिल सकती, पर अपने भावसे तो मिल सकती है। फल चढ़ाये तो अमृतफल चढ़ाये। ऐसे ही बहुत कीमती सामग्रियोंसे और भावसे भगवान्‌की पूजा करे। भगवान्‌का चरण धोये तो मुग्ध हो जाय और अश्रुपात होने लग जाय, ऐसा लगे मानो प्रत्यक्षमें ही भगवान्‌का चरण धो रहा हूँ। इस प्रकार पूजा करके फिर भोग लगाये। भोग लगाते समय ऐसा भाव हो जाय मानो प्रत्यक्षमें भगवान् आ गये और मैं उनके लिये भोग लगा रहा हूँ, परोस रहा हूँ तथा वे भोजन कर रहे हैं। उस समय आनन्दमुग्ध हो जाय कि मैं आज कृतकृत्य हो गया जो भगवान् मेरे हाथसे भोजन पा रहे हैं। फिर उनकी आरती उतारें। जैसे किसीको अपने दामादकी आरती उतारनेमें आनन्द होता है, वैसे ही हमें साक्षात् भगवान्‌की आरती उतारनेमें उससे लाखों गुना आनन्द होना चाहिये। खूब प्रेमसे आरती उतारे। भाव ही प्रधान है और वह अपने हाथकी चीज है, फिर उसमें कमी क्यों? फिर उसको रोज-रोज पूजा थोड़े ही करनी पड़ेगी। एक दिनकी पूजामें ही काम हो जायगा। गीताके श्लोकके अनुसार भाव और अर्थसहित उनकी पूजा होनी चाहिये, क्योंकि उसका एक-एक श्लोक कल्याण करनेवाला है।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

(गीता ९। २६)

'जो कोई मेरा प्यारा प्रेमी प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल और जल देता है, उस प्यारे प्रेमीका दिया हुआ मैं साक्षात् प्रकट होकर खाता हूँ।'

प्रेमकी बात बड़ी अनोखी है। द्रौपदीने करुणा-भावसे भगवान्‌को पुकारा था। भगवान् उसी समय पहुँचे और उसके एक ही शाकके पत्तेको पाकर उसमें मुग्ध हो गये। ध्रुवजीने राज्यकी कामनासे भगवान्‌को भजा और उनका ध्यान किया। भगवान् ध्रुवजीके लिये

पहुँचे और कहा कि जो तुम्हारी इच्छा हो सो माँगो। ध्रुवने कहा कि पहले तो माँगनेकी इच्छा थी, पर अब कोई इच्छा नहीं है। भगवान् बोले कि नहीं है तब भी मैं बिना माँगे तुम्हें दूँगा। तुमने सकाम-भावसे मुझे भजा है। यदि मैं कामनाकी पूर्ति नहीं करूँगा तो फिर सकामी तो मुझे भजेंगे ही नहीं। तुम्हारा निष्कामभाव हो गया, यह अच्छी बात है। इस तरह भगवान्‌ने निष्कामभावका फल मुक्ति भी दी और सकामभावका फल राज्य भी दिया। उनका भाव कितने ऊँचे दरजेका था। वनमें तपस्या कर रहा है, पर उसको खानेकी, पीनेकी, मल-मूत्रकी और नींदकी कुछ भी परवाह नहीं है। ध्यान लगाया तो उसमें विघ्न डालनेके लिये राक्षस—असुर लोग आये, पर वे भी विघ्न नहीं डाल सके। वह अपने ध्यानमें मस्त रहा और ऐसा भाव हुआ कि भगवान्‌के सिवाय और किसी वस्तुका ज्ञान नहीं रहा। ध्यान हो तो ऐसा ही होना चाहिये; बल्कि इससे भी बढ़कर होना चाहिये। नाम और रूप दोनों ही कल्याण करनेवाले हैं। फलके विषयमें भीलनीका और विदुरकी स्त्रीका उदाहरण है। विदुरके यहाँ तो भगवान् बहुत बार गये, कभी फल खिलाया कभी शाक। जहाँ रोज आना-जाना हो वहाँ प्रेममें सब तरहका काम पड़ जाता है, किसी प्रकारका संकोच नहीं रहता। एक बार भगवान् घर गये तो वे स्नान कर रही थीं। भगवान्‌की पुकार सुनकर वे प्रेममें इतना मुग्ध हो गयीं कि कपड़े बदलनेका भी ध्यान नहीं रहा। तब भगवान्‌ने पीताम्बरसे उनका बदन ढक दिया। प्रेममें इतनी मुग्ध हो गयीं कि खिलाने तो चाहिये थे केलेके गूदे, किंतु खिलाने लगीं केलेका छिलका। विदुर भी आये और बोले—तू क्या खिला रही है। वह बोलीं—केला। विदुर बोले—देख तो सही तू क्या खिला रही है। देखनेके बाद विचार हुआ कि मैंने तो बहुत बड़ा अपराध कर दिया। फिर केलेकी गिरी खिलाने लगीं और पूछीं कि महाराज! अच्छा है?

भगवान् बोले—अच्छा तो है, पर जो स्वाद छिलकेमें था वह स्वाद नहीं है। भगवान्‌को इस प्रकार प्रेमसे भोग लगाना चाहिये ताकि भगवान्‌को बाध्य होकर प्रकट होना पड़े। इसी प्रकार एक पुरवा जलका सेवन करनेके लिये भगवान् रन्तिदेवके घर पहुँच गये। उनका भाव था स्वयं भूखा रहकर भी दूसरोंके प्राणोंकी रक्षा करना, सबमें भगवद्‌बुद्धि करना—यह बहुत ऊँचा भाव है। भगवान् ही स्वयं चाण्डालका रूप धारण करके उनके पास जल पीनेके लिये आये। वह ४८ दिनसे प्यासे थे, तब भी स्वयं जल न पीकर उसे जल पिला दिया। पहले तो एक चाण्डाल कई कुत्तोंको साथ लेकर आया और कहा कि मेरे कुत्ते भूखे हैं। तब उन्होंने भोजन उन्हें दे दिया। इसके बाद जैसे ही बचा हुआ जल पीने लगे, उसी समय दूसरा चाण्डाल आया और कहा कि मैं प्यासा हूँ, मुझे जल दो तो उन्होंने उसे जल दे दिया। तदुपरान्त भगवान् ब्रह्मा, विष्णु, महेशके रूपमें प्रकट होकर बोले—हम तुमसे प्रसन्न हुए। हम ही चाण्डाल और कुत्तेका रूप धारण करके तुम्हारी परीक्षा लेनेके लिये आये थे। तुम परीक्षामें उत्तीर्ण हो गये, इसलिये हम स्वयं आये हैं, अब अपनी इच्छानुरूप वरदान माँग। उन्होंने कहा—आपकी कृपा है, पर मेरी तो कोई इच्छा नहीं है। यह है निष्कामभाव। कहनेपर भी कुछ नहीं माँगा। जैसे प्रह्लादजीसे भगवान्‌ने जब कहा तब भी प्रह्लादने कुछ नहीं माँगा। विशेष कहनेपर यही माँगा कि मेरी माँगनेकी इच्छा ही न रहे। प्रह्लादजी-जैसा निष्कामभाव हो तो बहुत ही उत्तम दर्जेकी बात है। ऐसा ही होना चाहिये। भगवान्‌से प्रेम होना चाहिये। चाहे सकाम-भावसे हो तब भी खुश होना चाहिये। यदि प्रेम भी हो और निष्काम भाव भी हो, तो फिर बात ही क्या है? प्रेम भी भाव है, निष्काम भी भाव है—भाव ही भगवान् हैं। भीलनीका भाव देखें। वह भगवान्‌के लिये बढ़िया-से-बढ़िया बेर इकट्ठा करती

है। जब भगवान् आये तो कितने प्रेमसे भगवान्‌को बेर दे रही है और भगवान् प्रेमसे भोग लगा रहे हैं।

पत्र, पुष्प, फल, जल, भगवान्‌को अर्पण करना कोई महत्त्वकी चीज नहीं है, इनके साथ जो प्रेमभाव है वह महत्त्वपूर्ण है। भगवान् प्रेमके ही भूखे हैं-

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥

(रा० च० मा० १। १८५। ५)

शिवजी महाराज देवताओंके बीच कहते हैं कि हरि सब जगह समान-भावसे व्यापक हैं और वे प्रेमसे प्रकट होते हैं, यह बात मैं जानता हूँ। शिवजी नहीं जानेंगे तो जानेगा ही कौन? ***'रामहि केवल प्रेम पिआरा'*** (रा० च० मा० २। १३७। १) रामको केवल प्रेम ही प्यारा है। ***'जानउँ एक प्रेम कर नाता'***—भगवान् कहते हैं कि मेरे एक प्रेमका ही नाता है। इन शब्दोंको खयालमें रखकर भगवान्‌से प्रेम करना चाहिये। प्रेम ही असली चीज है। गीता (९। २६)-में खयाल करके देखें कि बार-बार प्रेमकी आवृत्ति की गयी है—**'यो मे भक्त्या०'** इसमें प्रेम है जो मुझे भक्तिसे देवे, **'भक्त्युपहृतम्'**—वह भक्तिसे दिया हुआ, **'प्रयतात्मनः'**—मेरे प्यारेके द्वारा, इस श्लोकमें प्रेमके शब्द भर दिये। हम लोग नित्य एकान्तमें बैठकर साधन करते हैं। भगवान्‌के नामका जप, स्वरूपका ध्यान आदि अर्थ और भावको समझकर, तत्त्व-रहस्यको समझकर श्रद्धा और प्रेमसे किया जाय तो बहुत कीमती है। इसी प्रकार गीता और रामायणका पाठ अर्थ समझकर किया जाय तो वह कीमती है और भाव समझकर किया जाय तो और भी कीमती है। यदि उस भावसे भावित हो जाय तो फिर कहना ही क्या है?

इसी तरह रात्रिमें सोनेके समय भी भगवान्‌के जप और ध्यानमें तन्मय होकर सोये, भाव हृदयमें धारण करके सोये, भगवान्‌के गुण,

प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको समझता हुआ सोये, भगवान्‌के नाम-रूपको मनसे धारण करके सोये तो वह शयनकाल भी साधन-काल बन जाता है। उसी प्रकार व्यवहारकालमें भी किसीसे व्यवहार करे तो निष्काम-भावसे करे। केवल एक निष्काम-भावसे ही कल्याण हो जाता है। कर्मयोगमें निष्काम-भाव ही प्रधान है। निष्काम-भावके बिना कर्मयोग कर्मयोग ही नहीं है। अपनी प्रत्येक क्रिया भावयुक्त होनी चाहिये। अपनी प्रत्येक क्रियामें श्रद्धा रहनी चाहिये, प्रेम रहना चाहिये, समता रहनी चाहिये, उदारता रहनी चाहिये, विनय और निष्काम-भाव रहना चाहिये। इन सब भावोंसे भावित होकर यदि अपनी क्रिया हो तो हमारी आत्मा शुद्ध होकर हमें परमात्माकी प्राप्ति उसी समय हो सकती है। किसीके साथ भी हम व्यवहार करें चाहे वह देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि कोई भी हो, उसमें भगवद्भाव होना चाहिये। परमात्मा सबमें विराजमान हो रहे हैं। कोई भी ऐसा प्राणी नहीं है, जिसमें परमात्मा नहीं हैं। स्वयं भगवान् कहते हैं—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।

(गीता १०। २०)

प्राणिमात्रके हृदयमें मैं ही उनकी आत्मा होकर स्थित हूँ। यह नहीं कि मैं देवताओंमें हूँ, मनुष्योंमें हूँ—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

(गीता १८। ६१)

ईश्वर सारे भूत-प्राणियोंके हृदयमें स्थित हैं। केवल मनुष्योंमें हों, देवताओंमें हों ऐसी बात नहीं है, बल्कि चींटीसे लेकर ब्रह्मापर्यन्त जितने प्राणी हैं, सबमें भगवान् विराजमान हैं। अतः सबमें भगवद्भाव करके यानी भगवद्भावसे भावित होकर सबके साथ व्यवहार करें तो अपना व्यवहार उच्च-से-उच्च कोटिका अपने-आप ही होने लगे, चाहे

बाहरसे वह व्यवहार न हो। जैसे कहीं नाटक हो रहा है और उस नाटकमें एक आदमीका लड़का सिपाहीके स्वाँगमें आता है और वह स्वयं उस नाटकमें चोरका स्वाँग करता है। चोर जिस तरह सिपाहीसे डरता है, उसी प्रकारसे वह भी डरता है, पर भीतरमें तो वह चोर यह बात समझता है कि यह सिपाहीके स्वाँगवाला मेरा ही लड़का है। ऊपरसे तो राज्यका सिपाही समझकर वैसा ही व्यवहार करना चाहिये। मान लें अपना लड़का कहीं मजिस्ट्रेट है और आप वहाँ वादी-प्रतिवादी बनकर जायँ तो वहाँ उसे अपना अधिकारी ही समझना चाहिये, स्वाँगको नहीं लजाना चाहिये, पर भीतरमें तो यह समझता है कि न्याय करनेवाला जो हाकिमकी जगह बैठा है, वह मेरा बेटा है। इसी तरह सबके हृदयमें इष्टदेव भगवान् विराज रहे हैं। यह भाव अपने हृदयमें हरदम जाग्रत् रहना चाहिये। भगवान् लीला कर रहे हैं और गोपियाँ उनकी लीला देखकर खुश हो रही हैं। भगवान् चाहे बालकोंके साथ खेल रहे हों, चाहे गाय-बछड़ोंको चरा रहे हों, पर वे गोपियाँ तो यही समझ रही हैं कि ये भगवान् हैं। उनकी प्रत्येक क्रिया उनको लीलाके रूपमें दीख रही है। इसी प्रकार सब पदार्थोंमें भावकी बहुत आवश्यकता है। जितने जड़ या चेतन हैं—पहाड़ है, वृक्ष है या कोई मकान है—उन सबमें यह समझना चाहिये कि भगवान् ही व्याप्त हो रहे हैं। अतः उन पदार्थोंको न देखकर जो उनमें व्याप्त है, उसे देखकर मुग्ध होना चाहिये। जैसे खंभा जड़ पदार्थ है, किंतु प्रह्लादको तो खंभेमें भी भगवान् दीख रहे हैं। इसीलिये खंभेमें भगवान् प्रकट हो गये। भगवान् तो थे ही; किंतु लोगोंको यह बात दिखला दी कि मेरा भक्त गलत नहीं कह रहा है, उसे मेरा प्रत्यक्ष दर्शन हो रहा है। प्रह्लादको आगमें बैठा दिया तो आग भी उनको भगवान्‌के रूपमें दीख रही है; फिर वह आग प्रह्लादको जलाये कैसे? यह आश्चर्यकी-सी बात है, अप्राकृत बात है, क्योंकि प्रकृतिमें ऐसी बात देखनेमें नहीं आती

कि आग किसीको न जलाये। हिरण्यकशिपुको भी यह देखकर आश्चर्य हुआ कि आग तुम्हें क्यों नहीं जलाती? उसने कहा कि यह मुझे चन्दनके समान शीतल प्रतीत होती है। प्रह्लादका अद्भुत भाव है। ऐसा ही भाव अपना होना चाहिये। जड़ पदार्थोंमें भी गोपियोंका भाव देखकर भगवान् बोले कि गोपियाँ मुझे सबसे बढ़कर प्यारी हैं। भगवान् उनकी सुन्दरता या अवस्थाको देखकर प्रेम नहीं करते थे, बल्कि उनके भावको देखकर प्रेम करते थे। यह भाव स्त्रीमें, पुरुषमें, पशुमें किसीमें भी हो सकता है। हनुमान्‌जीका शरीर तो वानरका-सा था, किंतु उनमें भाव उत्पन्न हो गया। हनुमान्‌जी कहते हैं—

की तुम्ह तीनि देव महँ कोऊ। नर नारायण की तुम्ह दोऊ॥

(रा० च० मा० ४। १। १०)

जब राम और लक्ष्मण ऋष्यमूक पर्वतके निकट आये हैं तब वहाँ हनुमान्‌जी सुग्रीवके भेजनेपर गये। हनुमान्‌जीने पहले तो यह पूछा कि आप दोनों भाई, जो क्षत्रियका रूप धारण करके वनमें घूम रहे हैं कौन हैं? फिर जब उनका भाव बदल गया तब उन्होंने पूछा कि आप ब्रह्मा, विष्णु, महेश—इन तीन देवताओंमेंसे तो नहीं हैं, या आप स्वयं नर-नारायण ही इस रूपमें आये हैं। फिर कहते हैं—

जग कारन तारन भव भंजन धरनी भार।
की तुम्ह अखिल भुवन पति लीन्ह मनुज अवतार॥

(रा० च० मा० ४। १)

आपने संसारका उद्धार करनेके लिये और पृथ्वीका भार उतारनेके लिये सारे ब्रह्माण्डके मालिक यानी साक्षात् परमात्मा होते हुए भी मनुष्यके रूपमें अवतार तो नहीं लिया? हनुमान्‌जीका कैसा उत्तम भाव है। ऐसा भाव हो फिर भगवान् छिपकर कैसे रह सकते हैं, भगवान् प्रकट हो गये। यहाँतक कि भगवान्‌ने हनुमान्‌को वहाँ अनन्यभक्तिका उपदेश दिया—

समदरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्यगति सोऊ॥

(रा० च० मा० ४। ३। ८)

हे हनुमान्! लोग मुझे समदर्शी कहते हैं, किंतु मुझको सेवक प्रिय है क्योंकि वह अनन्यगति होता है, ऐसा जो अनन्य प्रेमी और सेवक है, वह मेरा अतिशय प्यारा है।

अनन्य भक्तका लक्षण कहते-कहते भगवान् राम कहते हैं—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

(रा० च० मा० ४। ३)

हनुमान्! वही मेरा अनन्य भक्त है, जिसकी बुद्धि इस सिद्धान्तसे कभी नहीं टलती, कभी नहीं हटती कि चराचर संसार भगवान्‌के स्वरूपकी राशि है और मैं सबका सेवक हूँ। जिसका यह भाव है, जिसकी यह अटल बुद्धि है, वह मेरा अनन्य भक्त है। भगवान्‌ने अपनी अनन्य भक्तिका उपदेश हनुमान्‌के लिये दिया है। जबकि हनुमान्‌जी जातिके वानर हैं। इसी प्रकार जटायु जातिका पक्षी और पक्षियोंमें भी अधम, मांसाहारी है, किंतु भगवान्‌के लिये उसने अपना शरीर अर्पण कर दिया। भगवान्‌ने उसकी हालत देखी। उसमें बोलनेकी शक्ति नहीं रह गयी थी। उस गिद्धको अपनी गोदमें लेकर बैठे और उसने अपने संकेतसे ही बताया कि रावण सीताको दक्षिण दिशाकी तरफ ले गया है। ऐसा कहते हुए उसने प्राणोंका त्याग कर दिया।

भगवान् उससे कितना प्रेम करते हैं—अपनी जटासे उसकी धूल झाड़ी और अपने परमधाम भेज दिया। बालि भी जातिका वानर था। वह बड़ा पापी था, किंतु भगवान्‌को देखकर उसका भाव बदल गया। इतने बड़े पापीका भी भाव देखकर भगवान्‌ने उद्धार कर दिया। बालिने कहा—

सुनहु राम स्वामी सन चल न चातुरी मोरि।
प्रभु अजहूँ मैं पापी अंतकाल गति तोरि॥

(रा० च० मा० ४। ९)

हे श्रीरामजी, सुनिये आप स्वामीसे मेरी चतुराई नहीं चल सकती। हे प्रभो! अन्तकालमें आपकी गति (शरण) पाकर मैं अभी भी क्या पापी रहा? भगवान् उसी समय प्रसन्न हो गये और उसे अपने परमधाम भेज दिया।

भाव बदलना चाहिये, फिर चाहे कोई मनुष्य हो, देवता हो, पशु हो, पक्षी हो, असुर या राक्षस ही क्यों न हो। प्रह्लाद असुर-जातिके थे, पर उनका भाव कितना ऊँचा था। उनके भावको देखकर उनके साथ भगवान्‌ने कैसा प्रेमका व्यवहार किया। भगवान् नृसिंहरूपसे प्रकट हुए और उन्हें गोदमें बैठाकर उनका हाथ चाटने लगे और कहा कि बेटा! मेरे आनेमें विलम्ब हो गया, इसलिये तू मेरे अपराधका खयाल मत करना, क्षमा करना। विभीषण राक्षस-जातिके थे, पर जब मिलनेके लिये आये तो भगवान्‌ने उन्हें आश्वासन दिया कि मेरा यह नियम है कि जो एक बार भी कह देता है कि मैं आपकी शरण हूँ, उसका मैं त्याग नहीं करता। अतः उसे आने दो। भगवान् तो केवल भाव देखते हैं, प्रेम देखते हैं। इन सब बातोंको खयालमें रखकर हम लोगोंको भावकी तरफ ध्यान देना चाहिये और भगवान्‌से खूब प्रेम करना चाहिये। जब भाव अपने पास है फिर परमात्माकी प्राप्तिमें विलम्ब क्यों? अपना भाव बदलना चाहिये। जितने भी पदार्थ हैं, अपनी जो क्रिया है, अपना जो व्यवहार है, उसमें अपना भाव उच्च-कोटिका होना चाहिये। हम किसीकी सेवा करें तो भगवद्भावसे उसे नारायणका स्वरूप समझकर सेवा करें। यज्ञ, दान, तप आदि कोई भी क्रिया करें, भगवान्‌की आज्ञा समझकर करें और भगवान्‌के लिये ही करें। छोटी-से-छोटी क्रियासे भी भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है और हुई है। अतः आवश्यकता है निश्छल भावकी, क्योंकि भगवत्प्राप्तिमें सर्वत्र भावकी ही प्रधानता है।

कर्तव्य-पालन एवं दूसरोंके अधिकारकी रक्षा

सत्संगमें आकर बैठ जाना ही अपने हाथकी बात है और अपने बसकी बात नहीं है। बैठकर उन बातोंको अच्छी तरह सुनना जो हम यथाशक्ति करते ही हैं, उन बातोंको सुनकर काममें लाना असली बात है। सत्संगमें रुचि और श्रद्धा कम होनेसे ही आलस्य आता है और दूसरे सब कारण गौण हैं। मुझे तो आलस्य तभी आता है जब रातको पाँच घण्टा सोनेको नहीं मिलता। मैं छः घण्टा सोनेकी चेष्टा करता हूँ तो नियमित रूपसे पाँच घण्टा सोनेको मिल जाता है। जिससे निद्रा मेरे समयमें दखल नहीं देती। यह सोचना चाहिये कि अपना समय किस प्रकार बितायें। अपने जिम्मेवारीके जो काम हैं, उसमें अपनी ड्यूटी करनेमें कमी नहीं रहने देनी चाहिये। जो अपनी ड्यूटी है यानी जिस कामके लिये हम आये हैं, उस कामको करना चाहिये। एक नम्बरका काम है परमात्माकी प्राप्ति करनी और उसके लिये सब प्रकारसे कोशिश करनी। मनसे, वाणीसे, शरीरसे, इन्द्रियोंसे यानी सब प्रकारसे चेष्टा करनी। उसकी कमीमें बाधक है शरीरका आराम, खाने-पीनेका आराम और सोनेका आराम। और कुछ रहे या न रहे, पर शरीर कायम रहना चाहिये और इसको कायम रखनेकी जितनी तत्परता है उससे कहीं ज्यादा तत्परता परमात्माके लिये होनी चाहिये। भगवान् प्राणोंसे भी बढ़कर प्यारे होने चाहिये। अपने शरीरके लिये हम जितना साधन करते हैं उससे बढ़कर साधन परमात्माकी प्राप्तिके लिये करना चाहिये। यही असली जिम्मेवारी है।

शरीरकी जिम्मेवारी जबरदस्ती अपने ऊपर ले रखी है, जबकि आपकी बिलकुल भी जिम्मेवारी नहीं है। यह जिम्मेवारी तो प्रारब्धपर निर्भर है और भगवान्‌ने उसके लिये जो विधान बना दिया, उसमें न तिल घटे और न राई बढ़े। जिसकी जिम्मेवारी भगवान्‌ने ले रखी है, उसकी जिम्मेवारी तो जबरदस्ती हमने अपने ऊपर ले ली है और जिसकी हमारी जिम्मेवारी है, उसको छोड़ रखा है। आप अपना भार भगवान्‌पर छोड़ देवें। अपने आपको भगवान्‌के अर्पण करनेके बाद हम भगवान्‌के ही हो गये और भगवान्‌की आज्ञाका पालन करें तो हमारा उद्धार होनेमें कोई शंका नहीं है। अगर मालिक भी सच्चा हो और गुमाश्ता भी सच्चा हो तो उनका व्यवहार आदर्श होता है और ऐसा व्यवहार दूसरोंके लिये एक साधन है। जैसे सिद्ध महात्मा पुरुषमें जो लक्षण हैं, वे स्वाभाविक ही हैं और साधकोंके लिये वे साधन हैं। सिद्ध महापुरुषोंके लक्षणोंका समूह साधकोंके लिये साधन है। इसी तरह स्वामी और सेवक दोनों यदि योग्य हों तो दोनोंका ही आपसमें कल्याण हो जाता है।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥ (गीता ३।११)

ब्रह्माजी मनुष्योंको कहते हैं कि इस यज्ञके द्वारा तुम देवताओंको उन्नत करो और वे देवता तुमको उन्नत करें यानी देवतालोग अपनी उन्नतिका खयाल न करके तुम्हें उन्नत करें और तुम अपना खयाल न करके देवताओंको उन्नत करो, इस प्रकार परस्परमें एक-दूसरेको उन्नत करते हुए दोनों परम श्रेयको प्राप्त हो जाओगे। परम श्रेय यानी परमात्माकी प्राप्ति या आत्माका उद्धार। इसी प्रकार स्वामी सेवककी उन्नतिका खयाल रखे और सेवक स्वामीकी सेवाकी तरफ खयाल रखे तो वे एक-दूसरेकी उन्नति करते हुए, एक-दूसरेको चाहते हुए यानी

अपनी परवाह न करके, अपने स्वार्थका त्याग करके एक-दूसरेकी उन्नतिके परायण हों तो दोनोंका उद्धार हो जाय। यही बात सबपर लागू होती है। स्त्री मात्र पतिकी सेवाके परायण हो जाय और पति स्त्रीके हितमें लग जाय तो स्वार्थ-त्यागके बलसे एक-दूसरेके हितमें रत होनेसे दोनोंका ही कल्याण हो जाय। पुत्र माता-पिताकी सेवाके परायण हो जाय और यह समझ ले कि मेरे जो कुछ हैं वे माता-पिता ही हैं, वे ही ईश्वर हैं; अतः उनकी सेवा ही मेरा परम धर्म है। मुझे और कुछ नहीं करना है और अपने निजकी तरफ नहीं देखना है तो उन माता-पिता तथा पुत्र दोनोंका कल्याण हो जाय। पद्मपुराणमें कथा आती है कि मूक चाण्डाल अपने माता-पिताकी सेवाके ही परायण था और उसी कारण उसका और उसके माता-पिताका कल्याण हो गया। वे माता-पिता उसका हित चाहते थे और उनके आशीर्वादसे उसका परम हित हो गया और वह माता-पिताकी सब प्रकारसे सेवा करता था, जिससे दोनोंका कल्याण हो गया। आधुनिक कालमें कलियुगमें पुण्डरीक नामका माता-पिताका भक्त पंढरपुरमें चन्द्रभागा नदीके किनारे रहता था। वहाँ भगवान्‌का मंदिर है और उसमें उसकी और उसके माता-पिताकी भी मूर्तियाँ हैं। सुना जाता है कि बनारसमें माता-पिताके किसी भक्तके दृश्यको देखकर उसमें भी माता-पिताकी भक्ति जग गयी और वह इस प्रकार माता-पिताकी सेवाके परायण हुआ कि एक दिन बिना बुलाये ही भगवान् उसके पीछे आकर खड़े हो गये और बोले—पुण्डरीक! मैं भगवान् तुमसे मिलनेके लिये आया हूँ। पुण्डरीक बोला आएँ महाराज! बड़ी कृपा की और उसके सामने एक ईंट पड़ी थी, वह उसे पीछे सरकाकर बोला—बैठें। तब भगवान् बोले—मैं तुमसे मिलनेके लिये आया हूँ। पुण्डरीकने कहा—प्रभु अभी तो मैं माता-पिताकी सेवा कर रहा हूँ, अवकाश होनेपर आपसे

मिलूँगा। भगवान् बोले—मैं भगवान् तुमसे मिलनेके लिये तुम्हारे घरपर आया और तुमको मुझसे मिलनेका भी अवकाश नहीं है। पुण्डरीकने कहा—महाराज! मैं अभी सेवा कर रहा हूँ न। अच्छा बताइये, आप बिना बुलाये क्यों आये? भगवान् बोले—तू माता-पिताका भक्त है, इसीलिये मैं तुम्हें दर्शन देने आया हूँ। अच्छा, माता-पिताकी भक्तिका इतना बड़ा प्रभाव है कि आपको बिना बुलाये आना पड़ा। भगवान्ने कहा कि हाँ माता-पिताकी भक्तिका तो ऐसा ही प्रभाव है। पुण्डरीकने कहा अगर माता-पिताकी भक्तिका ऐसा प्रभाव है तो फिर आप ही बताइये कि मैं माता-पिताकी भक्ति कैसे छोड़ सकता हूँ? अभी तो मैं माता-पिताकी सेवा कर रहा हूँ। आप किसी दूसरे समय दर्शन दीजिये। इतना सुनते ही भगवान् सम्मुख आ गये और बोले मैं तुम्हारी परीक्षा कर रहा था कि तुम मेरी अवहेलना करते हो या माता-पिता की। तुमने माता-पिताकी सेवाके प्रणको नहीं छोड़ा और मेरी अवहेलना की, उससे मैं खुश हो गया। प्रेमके नाते तो हमेशा मिलते हैं, पर यहाँ भगवान् अवहेलना करनेपर भी खुश हो गये। भगवान् बोले—मैं खुश हूँ, जो तेरी इच्छा हो—जो तू चाहे, वह माँग। पुण्डरीकने कहा कि महाराज! माता-पिताकी भक्तिमें जो कमी है उसको पूरी कर दें। जिसका इतना प्रभाव है कि आपको खुद आना पड़ा तो मैं और क्या चाहूँ। जैसे स्वामी-सेवक है तो मालिकका तो यह कर्तव्य है कि इस सेवकका इस लोक और परलोकमें कैसे हित हो और सेवकका यह कर्तव्य है कि मालिककी लौकिक और पारलौकिक दोनों उन्नति किस प्रकार हो। सेवककी निष्काम सेवाके बलसे उस सेवककी इच्छाकी पूर्ति भगवान्की कृपासे हो जाती है। सेवककी एक ही इच्छा रहे कि इस लोक और परलोकमें मालिककी उन्नति होवे, दोनों प्रकारसे मालिकका हित हो—यही मेरा कर्तव्य है और अपने हितको बिलकुल

भूल जाये। और मालिकका यह कर्तव्य है कि इस लोक और परलोकमें अपने सेवकका हित कैसे हो? क्योंकि यह अपने परायण है। मालिककी निष्काम इच्छासे सेवकका उद्धार हो जाता है—

'परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।' (गीता ३। ११)

एक-दूसरेका हित चाहते हुए दोनों ही परम श्रेय यानी परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं यानी दोनों ही मुक्त हो जाते हैं। परमात्माके तत्त्व रहस्यको एक-दूसरेको जताना ही अपना कर्तव्य मान लेवें—तो उससे भी भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। एक-दूसरेके हितमें भी रत हो जायें तो भी दोनोंका कल्याण हो जाता है। मालिकको तो यह ध्यान रहे कि मजदूरोंकी उन्नति किस प्रकार हो और मजदूरको अपनी तरफका खयाल ही न रहे कि मालिक क्या देगा, अपनेको रुपया देगा कि धक्का देगा। इस प्रकारका कुछ भी विचार न कर, सेवकके लिये तो यह है कि स्वामीके द्वारपर पड़ा रहे, उसका धक्का खाकर भी उसका हित चाहता रहे। ऐसे निष्कामी सेवकके निष्कामभावके बलपर उसका उद्धार हो जाता है और मालिकका जो यह भाव है कि अपने स्वार्थका त्याग करके अपने सेवकका सब प्रकारसे कैसे हित हो, अपने स्वार्थकी तरफ खयाल ही न करे तो उस निष्कामभावके बलसे उसका उद्धार हो जाय, दोनोंका उद्धार हो जाय। मेरे निष्कामभावके बलसे आपका उद्धार हो जाय।

मेरा उद्धार तो उसकी दलालीमें ही हो जायगा। आपके आशीर्वादसे ही हो जायगा। आपकी आत्माको सुख पहुँचेगा तो आपके आशीर्वादसे ही मेरा उद्धार हो जायगा। मेरे उद्धारके लिये मुझे क्यों चिन्ता करनी चाहिये। ऐसा निष्कामभाव होना चाहिये। ऐसा दृश्य अपने सम्मुख पड़े तो उसका दर्शन करके हम पवित्र हो जायँ। अपने यह देखें कि अहो कैसा सेवक है, सेवक हो तो ऐसा होना चाहिये और सेवक यह देखे

कि देखो कैसा मालिक है, मालिक हो तो ऐसा होना चाहिये। परस्परमें एक-दूसरेके स्वार्थका त्याग दोनोंका कल्याण करनेवाला है। इस संसारमें हम सबसे बढ़कर आदर्श आपके सामने रखते हैं तो भरतजीका और श्रीरामचन्द्रजीका। भरतजीका तो यह भाव है कि येन-केन-प्रकारेण—जिस किसी भी प्रकारसे भगवान् रामजी अयोध्या वापस आ जायँ; राज्य करें और हम उनकी सेवा करें तथा महाराज रामचन्द्रजीका यह भाव है कि भरत मुझे संकोचमें न डालें, जिस किसी भी प्रकारसे चौदह वर्षके लिये राज्य सँभाल लें। जैसे गेंद खेलनेवाले होते हैं वे गेंदको ठोकर मारते हैं और विपक्षी भी गेंदको ठोकर मारते है। यहाँ राज्यको तो बना लिया गेंद और इधरसे भगवान् ठोकर मार रहे हैं और उधरसे भरतजी ठोकर मार रहे हैं। हमारे लिये यह आदर्श है। यह दृश्य हमें मुक्ति देनेवाला है। वे तो मुक्त थे ही। उनकी तो बात ही क्या है, उनके लिये तो यह खेल है। उन्होंने हमें शिक्षा देनेके लिये यह खेल खेला। दूसरे कोई ऐसा करें, उनका अनुकरण करें तो उनका तो कल्याण हो जाय, इसमें कोई बात ही नहीं है। जिन्हें इस प्रकारका खेल देखनेको मिल जाय, उनका भी अहोभाग्य है। इससे बहुत प्रसन्नता होती है। इस प्रसन्नतासे सारे दुःखोंका नाश होकर भगवान्‌के स्वरूपमें स्थिति हो जाती है—

'प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।' (गीता २। ६५)

जिसका चित्त प्रसन्न होता है उसकी बुद्धि शीघ्र ही परमात्मामें स्थित हो जाती है। यानी परमात्मामें शीघ्र ही स्थापित हो जाती है। यह प्रसन्नता सात्त्विक प्रसन्नता है। जो इस प्रकारका व्यवहार करनेवाले पुरुष हैं उनकी जितनी प्रशंसा की जाय उतनी ही थोड़ी है। मनुष्य जो अपने-आपके उद्धारकी चिन्ता करता है, उसके कारण ही विलम्ब होता है। आत्माके लिये प्रयत्न तो करे, खूब प्राणपर्यन्त चेष्टा करे, पर इसका

जो फल है उसकी इच्छा न करे, उसका नाम निष्काम-भाव है। भगवान् कहते हैं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥ (गीता २। ४७)

तेरा कर्म करनेमें अधिकार है उसके फलमें कभी नहीं। फलका चाहना अनधिकार चेष्टा है। अनधिकार चेष्टाका परिणाम अच्छा नहीं होता। जो सेवक अपने हितकी तरफ खयाल नहीं करता केवल मालिकके परायण हो जाता है, उसके मालिककी बुद्धि फिर जाती है। यदि मालिक अच्छा होता है तो बात ही क्या है। उसके व्यवहारके प्रभावसे मालिक अच्छा नहीं हो तो भी अच्छा हो जाता है तथा उसके व्यवहारके अनुसार फलदाता बन जाता है। अगर सेवक खुद अपनी चिन्ता करने लग जाय तो मालिककी बुद्धि दूसरी प्रकारकी हो जाती है, उसकी बुद्धि फिर जाती है, उसकी तरफसे मालिककी बुद्धि हट जाती है। संसारमें इससे उलटी बात हो रही है, जगह-जगह लड़ाई-झगड़ा हो रहा है। यह बात समझमें आ जाय तो फिर लड़ाई-झगड़ा सब समाप्त हो जाय, सब बदल जाय। इस प्रकारका व्यवहार देखनेवालेके दिलसे भी उसका यदि किसीके साथ लड़ाई-झगड़ा हो तो वह भी मिट जाता है; क्योंकि यह सेवा-भाव है, उदारताका भाव है, दयाका भाव है। इससे नीची श्रेणी है किसीको कष्ट नहीं पहुँचाना। उसका मतलब यह बतलाया गया कि—

अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः। (योगदर्शन २। ३५)

अहिंसाकी प्रतिष्ठा होनेपर उसका इतना प्रभाव पड़ता है कि उसके नजदीक आनेपर दो वैरी भी परस्पर अपने वैरका त्याग कर देते हैं। फिर एक-दूसरेका हित चाहना तो बहुत ऊँचे दर्जेकी चीज है। एक तो हिंसा न करना और एक उसका उपकार करना। दूसरेका स्वत्व

हरण नहीं करनेसे उदारताका व्यवहार करना और भी उत्तम बात है। हरण नहीं करना भी उत्तम बात है। दूसरेके स्वत्वका हरण करना तो चोरी और डकैती है, इसका फल तो घोर नरक है। किसी दूसरेको कष्ट न पहुँचानेका यह फल है कि उनका इतना प्रभाव पड़ता है कि उनके संगमें जो आते हैं, वे भी अपना वैर-भाव त्याग देते हैं और जिनका जीवन दूसरेके हितमें रत है उनकी तो बात ही क्या है। अपने मालिक भगवान् हैं और भगवान् सबमें आत्मारूपमें विराजमान हैं—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥ (गीता १०। २०)

हे गुडाकेश! सब भूतोंके हृदयमें स्थित मैं ही सबकी आत्मा हूँ। अतः सबके हृदयमें जो आत्मा है, वही परमात्मा है। ऐसा समझकर हम सबकी सेवा करनेमें तत्पर हो जायँ तो हमारे उद्धारमें तो शंका ही क्या है? स्वयं भगवान् जगह-जगह कहते हैं—'**ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः**' जो सारे भूतोंके हितमें रत रहता है, वह मुझको ही प्राप्त होता है। बहुतसे भाई लोग कहते हैं कि हमारे तो सत्संगका ही आश्रय है, उससे अपने आप ही कल्याण हो जायगा। सत्संगके आश्रयका तत्त्व अलगसे समझना चाहिये। हमारे तो भगवान्‌का ही आसरा है—उससे कल्याण हो जायगा। हम तो भगवान्‌की शरण हैं। उनपर ही निर्भर हैं तो निर्भरताका मतलब ही वे नहीं समझे। शरणका तत्त्व ही नहीं समझे। शरण होना यानी अपने-आपको स्वामीके समर्पण कर देना। जिस चीजको यह मानता है कि यह 'मैं' हूँ और यह मानता है कि यह मेरी है, जिसमें 'मैं' भाव है, मेरापनका भाव है। उसी भावको उठाकर सब चीज भगवान्‌की माने। जबतक यह हमारी चीज थी तबतक हम इसे अपने काममें लाते थे, किंतु जब इसको भगवान्‌के समर्पण कर दी फिर हम उसको अपने काममें लायें तो यह चोरी है। अब भगवान्‌के ही काममें लेनी चाहिये। जब

भगवान्‌के काममें लगती है तो यह समर्पण करना उचित है, ठीक है। पर हम भगवान्‌का आसरा दूसरी तरहका लेते हैं। इसलिये वास्तवमें मामला गड़बड़ है। इस लोक और परलोक दोनोंमें हमारा स्वार्थ है कि इस लोकमें भी सुखसे जियें और मरनेके बाद परमपदकी प्राप्ति हो जाय। यानी हमने साधनके फलका आसरा ले रखा है। भगवान्‌का नहीं ले रखा है। यदि भगवान्‌का आसरा लेते तो बेड़ा पार हो जाता, फलका आसरा ले रखा है इसलिये कामकी सिद्धि नहीं होती। ऐसे ही कोई आदमी सत्संग करता है तो सत्संगका आसरा ले रखा है या सत्संगके फलका। सत्संगका फल है मुक्ति। सत्संग करनेके फलका आसरा ले रखा है, किंतु सत्संगका कोई आसरा नहीं है। सत्संगका आसरा क्या है कि सत्संगमें जो बात सुनी जाय उसके पालनके लिये प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये। यह सत्संगका आसरा है। भगवान्‌का आसरा क्या है? अपना तन-मन-धन भगवान्‌के काममें लगा देवें—वह भगवान्‌का आसरा लेना है। भगवान्‌के जप-ध्यानका आसरा लेना क्या है? भगवान्‌का जप करना, ध्यान करना। भगवान्‌के विधानका आसरा लेना कि भगवान् जो कुछ कर रहे हैं वह हमारे लिये मंगलमय है, भगवान्‌के विधानमें हमारा परम हित भरा हुआ है, यह भगवान्‌का आसरा है। भगवान्‌की आज्ञाका पालन करना या भगवान्‌ने मुझे अपना लिया इसलिये स्वयं भगवान्‌का हमारे ऊपर हाथ है और भगवान् स्वयं मुझको आदर्श बनाना चाहते हैं। इसलिये स्वयं भगवान् मेरी बागडोर अपने हाथमें लेकर मुझसे काम ले रहे हैं। जैसे सूत्रधार कठपुतलीकी बागडोर हाथमें लेकर नचाता है और उसकी जीत या हार सब कुछ सूत्रधारके हाथमें है। इसी प्रकार भगवान्‌के प्रति अपने आपको सौंप देना, अपनी बागडोर भगवान्‌के हाथमें सौंप देना है। अर्जुनने अपने घोड़ोंकी बागडोर श्रीकृष्णजीके हाथमें सौंप दी। जैसे भगवान् नचाते हैं अर्जुन वैसे ही नाचता है; इस प्रकार अर्जुनका शरण

होना ठीक है। पहले तो अर्जुनने कहा कि प्रभो! मैं आपकी शरण हूँ किन्तु भगवान्‌ने यह बात स्वीकार नहीं की। अंततक यही कहते रहे कि अर्जुन, तू मेरी शरण आ जा, तू मेरी शरण आ जा। अगर शरण हो जाते तो शरण आनेके बाद यह कहना नहीं बनता। शरण नहीं आनेपर ही यह कहना बनता है। अर्जुन अपनी दृष्टिसे तो शरण था, पर भगवान्‌की दृष्टिसे नहीं। अगर भगवान्‌की दृष्टिसे शरण हो जाय तो बेड़ा पार हो जाय। मनुष्यको धोखा हो जाता है और वह मान लेता है कि मैं शरण हूँ—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥

(गीता २। ७)

इसका यह भाव है कि अर्जुन भगवान्‌से कह रहे हैं कि कायरताके कारण मेरा स्वभाव भ्रष्ट हो गया है। क्या करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहिये इसका मुझे ज्ञान नहीं है। अतः मेरे लिये जो कल्याणकारक बात है, उसे आप निश्चयपूर्वक कहें। क्योंकि मैं आपकी शरण आया हूँ, मैं आपका शिष्य हूँ, आप मुझे शिक्षा दें। अर्जुनका यह वचन बहुत ही उच्चकोटिका है, अच्छा है, हमलोगोंके लिये अनुकरणीय है। हमलोगोंको इसके अनुसार भगवान्‌के शरण होना चाहिये। वाणीसे तो शरण है, किन्तु वास्तवमें शरण नहीं है। संजय धृतराष्ट्रसे कहते हैं कि अर्जुनने गोविन्दको फिर यह बात कही कि मैं युद्ध नहीं करूँगा। हमारी इन्द्रियोंको सुखानेवाला जो शोक है उसका दूर होना संभव नहीं है। यह सुनकर भगवान् हँसते हैं कि कहता है कि मैं आपकी शरण हूँ और मेरे लिये जो निश्चित कल्याणकारक बात है वह मुझसे कहें। मुझसे पूछा है और स्वयं ही निर्णय कर लिया कि मैं युद्ध नहीं करूँगा। इस बातपर एक छोटी-सी कहानी है। दो गृहस्थ रहते थे। उनमेंसे एक गृहस्थका नाला दूसरे गृहस्थके चौकमें गिरता था। वह कहता

था कि यह नाला बंद कर दो, पर दूसरा कहता था कि नाला बंद नहीं करूँगा; फिर पंचायतकी बात हुई। पाँच पंच मान लिये गये। दोनोंसे पूछा गया कि हम पाँचोंकी पंचायत तुम लोगोंको स्वीकार है। दोनों मिलकर कहते हैं कि हाँ स्वीकार है। पंचोंने कहा कि लिखकर दो, लिखित दे दिया। फिर कहा कि आप जो कुछ कहेंगे सिर माथेपर, अक्षरशः आपकी बातका पालन करेंगे। जिसका नाला गिरता था, वह कहता है कि नाला वहीं गिरेगा। आपकी सारी बातें हमें स्वीकार हैं, सिर्फ हमारा नाला वहीं गिरेगा। पंचोंने कहा कि पंचायत तो नालेको लेकर ही है और यहाँ निर्णय युद्धको लेकर है, फिर उसने कहा कि युद्ध नहीं करूँगा तो फिर पंचायत किस बात की? अर्जुनका यह कहना कि यह युद्ध करना उचित है या न करना उचित है, यह भी हम नहीं समझते। युद्धमें हमारी जय होगी या पराजय यह भी नहीं समझते, यह बात तो ठीक थी, पर आगे जाकर यह कहना कि मैं युद्ध नहीं करूँगा—यह बात ठीक नहीं। हमलोग वचनमात्रसे भगवान्‌की शरण होते हैं वास्तविक रूपसे नहीं। जो कुछ अनिच्छासे, परेच्छासे आकर प्राप्त होता है—वह हमें विपरीत मालूम देता है, यह शरणका भाव नहीं है। हम यह समझें कि सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय जो कुछ आकर प्राप्त हो वह भगवान्‌का विधान है, भगवान्‌का भेजा हुआ पुरस्कार है, इससे हमें प्रसन्नता होनी चाहिये। अनुकूल-प्रतिकूल, सुख-दुःख दोनोंमें ही प्रसन्नता होनी चाहिये, समान भाव होना चाहिये। यदि यह बात नहीं है तो हम किस तरह कह सकते हैं कि हम भगवान्‌की शरण हैं। भगवान्‌का किया हुआ न्याय तो हमें पसंद नहीं है। हम भगवान्‌के भक्त तो हैं किंतु भगवान्‌का किया हुआ फैसला हमें अच्छा नहीं लगता। भगवान्‌के हम भक्त हैं, भगवान्‌से बढ़कर हम किसीको नहीं मानते।

भगवान् हमारे मालिक हैं, इस प्रकारकी मालिकीसे भगवान् नहीं

रीझते। भगवान्‌के यहाँ कोई सफाई नहीं चलती, वहाँ कोई कपट नहीं चलता, भगवान्‌को कोई धोखा नहीं दे सकता। किंतु हम भगवान्‌को भी धोखा देनेकी चेष्टा करते हैं और अपने आपको भी धोखा देते हैं। धोखा देनेका स्वभाव पड़ गया। इसका नतीजा यह है कि दर-दर भटकते फिर रहे हैं। पाठशालामें एक साथ पढ़नेवाले या एक ही भगवान्‌के भक्त या एक ही महात्माके शिष्य—सभी आपसमें एक-दूसरेके हितमें रत हो जायँ। एक-दूसरेको तात्त्विक विषय जनानेके लिये तत्पर हो जायँ तो दोनोंका ही कल्याण हो जाय। इसी तरहसे स्त्री-पुरुष परस्पर अपने कर्तव्यको सँभाल लेवें और दूसरेके कर्तव्यकी तरफ न देखें, दूसरेके पदकी रक्षा करें तो दोनोंका कल्याण हो जाय। इसी तरहसे पिता और पुत्र दोनों एक-दूसरेके पदकी तो रक्षा करें और अपने कर्तव्यका निष्कामभावसे पालन करें तो दोनोंका ही कल्याण हो जाय। पिता अपने कर्तव्यकी तरफ खयाल करे कि पुत्रके साथ मुझे कैसा व्यवहार करना चाहिये और पुत्र अपने कर्तव्यका खयाल करे कि पिताके साथ मुझे कैसा व्यवहार करना चाहिये। पिताका यह कर्तव्य नहीं है कि मेरा लड़का अपने कर्तव्यका पालन करे तभी मैं अपने कर्तव्यका पालन करूँ और पुत्रका भी यह अधिकार नहीं है कि मेरे पिता अपने कर्तव्यका पालन करें तभी मैं अपने कर्तव्यका पालन करूँ। अधिकारकी रक्षा तो एक-दूसरेको करनी चाहिये। पिता मालिक है, उसका जो अधिकार है उसे हमें नहीं छीनना चाहिये। पिताके सामने पिताका ही अधिकार रहना चाहिये और पिताके कर्तव्यकी तरफ हमें खयाल नहीं करना चाहिये। उनके कर्तव्यकी ओर देखना तो एक तरहसे जवाब दे देना है, उससे कोई विशेष लाभ नहीं होता। हमको तो इस बातका खयाल करना है कि मेरा क्या कर्तव्य है। यदि हम प्रति उपकारकी दृष्टिसे दान दें तो वह दान भी सात्त्विक नहीं है।

देना ही कर्तव्य है इस बुद्धिसे जो दान दिया जाता है, प्रति-उपकारको नहीं देखते हुए, नहीं चाहते हुए जो दान दिया जाता है, वह सात्त्विक दान है। इसी प्रकार इस बुद्धिसे पिताकी सेवा की जाय कि पिताकी सेवा करना ही अपना कर्तव्य है और पितासे यह बदला नहीं चाहे कि ये मेरी सेवाके बदलेमें धन दे दें या पिता भी अपने कर्तव्यका पालन करें जैसा मैं करता हूँ, उसकी तरफ नहीं देखे तो यह पिताकी सात्त्विक सेवा है और उससे कल्याण होता है तथा जो अर्थकी दृष्टिसे पिताकी सेवा करे वह तो रुपयोंकी सेवा करता है, पिताकी सेवा नहीं। यदि हम किसी उद्देश्यको लेकर कोई काम करते हैं तो उस उद्देश्यकी सिद्धि शायद हो जाय, किंतु मुक्ति नहीं होती। मुक्ति तो तभी हो सकती है जब कामना, इच्छा, वासना या प्रति-उपकारकी इच्छा आदि सबका त्याग कर दे यानी ऐसा करनेसे हमारे असली कार्यकी सिद्धि हो सकती है। सेवा निष्कामभावसे करनी चाहिये। अपने कर्तव्यका तो पालन करे, पर दूसरोंसे यह आशा न रखे कि वह भी मेरे साथ अपने कर्तव्यका पालन करे। आज कलियुगमें कैसा खराब व्यवहार हो रहा है। सत्ययुगमें जो व्यवहार था वह इससे एकदम उलटा व्यवहार था। आज किसीके विवाह है या किसीके माता अथवा पिता मर गये या घरमें कोई खर्च है और उसके लिये उसे कितनी परेशानी उठानी पड़ती है। माँ-बाप मर जाते हैं तो भाइयोंके पीछे-पीछे हाजिरी देनी पड़ती है कि माँ-बापके खरचका जुगाड़ नहीं हुआ। विवाहमें भी ऐसी बात देखी जाती है। जो खुशामद करवाता है उसके लिये बहुत नीचे दर्जेकी बात है। हमारे घरमें शादी है तो बर्तनकी भी आवश्यकता है, बिछायतकी चीजोंकी भी आवश्यकता है, रोशनीकी भी आवश्यकता है; क्योंकि हमारे घरपर बारात आयेगी। इसलिये हमें चिन्ता लगी हुई है। शहरमें ये चीजें माँगनेसे मिलती हैं। हमारे घरपर एक विवाहकी सामग्रीकी

आवश्यकता है, परंतु मन करता है कि दो-तीन विवाह-जितनी चीज इकट्ठी कर लें। जिसके पास सामान होता है उससे वह कहता है कि बर्तन निकलवा दीजिये। देनेवाला कहता है कि अभी तो देनेवाला आदमी नहीं है आप कल या परसों आयें। इस प्रकार वह उसके पीछे-पीछे घूमता है और वह निकाल कर नहीं देता। फिर अंतमें कहता है कि हमारे कुटुम्बमें विवाह है उनको देना है, अतः आप अपना दूसरा प्रबन्ध कर लें। क्या करें हमारे भाइयोंमें विवाह आ गया न। भैया आप पहले कह देते। अरे वाह! पहले विवाह निश्चित ही नहीं हुआ तो पहले कैसे कह देते। मेरी क्या दशा होगी। भाई तुम अपनी सोचो। अतः देनेवाला जो दाता है वह तो वक्तपर धोखा दे देता है। इकट्ठा करनेवाला दो-तीन विवाहकी चीज इकट्ठी कर लेता है। ऐसे ही किसीकी मृत्युके समयमें होता है। उस युगमें क्या व्यवहार था। सत्ययुगमें बड़ा अच्छा व्यवहार था। उस समय इतने परतन्त्र नहीं थे। किसीके माँ-बाप मर जाते तो लोग हाजिरी देने जाते और कहते कि आपके यहाँ गमी हो गयी, मैं आपका सेवक हूँ; कुछ सेवा मुझे भी बतानी चाहिये। वे उत्तर देते कि कोई आवश्यकता नहीं है। मैं तो आपका ही हूँ और अपने घरपर जो चीज होती, बिना पूछे ही लाकर उसके घरपर रख देते और कहते ये चीज तो आपको काममें लानी पड़ेगी। दो गैसकी लालटेन और ये चार दरी है। वह कहता कि हम क्या करें हमारे पास जगह नहीं है। अच्छा एक तो रख ही लें। शहरमें और भी विवाह शादी हैं उनके काम आ जायेगी। उनका काम निकल जायगा। आपको दो तो रखनी ही पड़ेगी। देनेवाले इस भावसे देते थे मानो महात्माके भेंट चढ़ा रहे हों और लेनेवाला "ना-ना" करता रहता था। हरेक कामके लिये कहता कि मैं सेवा करना चाहता हूँ। काम तो कोई नहीं है, बोले कोई काम तो दें, जैसे ब्राह्मणोंको भोजन

करवानेका या पत्तल उठानेका। उसने कहा कि पत्तल तो नौकर चाकर उठा लेंगे। अरे और कोई काम तो बतायें। अच्छा ब्राह्मणोंका चरण धो दिया करूँगा। तो बोले उस कामके लिये दो-तीन आदमी नियुक्त हैं। पुनः वे बोले मैं भी उसीमें शामिल हो जाऊँगा। बोले बहुतसे आदमी हैं क्या जरूरत है और बहुतसे काम हैं। बोले नहीं, मेरे लिये तो यही सबसे बढ़कर काम है। सत्ययुगमें एकदम सात्त्विक व्यवहार था। वह कहता मैं करूँगा, दूसरा कहता मैं करूँगा? अपनी बिरादरीको जिमाया जा रहा है। हमारे पास आदमीकी जरूरत पड़ेगी। भोजनके वक्तसे पहले आ गया तो पूछा कि पहले क्यों आ गये? उत्तर मिला भोजन करवाना है न, यह हमारा सौभाग्य है कि कुछ सेवा बन जायगी।

फिर त्रेतायुग आया तो यह बात कुछ कमजोर पड़ गयी। फिर यह रीति रही कि आपको दरीकी, खोमचेकी, बर्तनकी आवश्यकता हो तो अपने यहाँ पड़े हैं। जब आपका हुक्म होगा तब ला देंगे, अपने घर ही पड़ा है आप संकोच मत करना, आप हमें बता देना उसी वक्त ला दूँगा। जब भी कोई काम-काज हो, जैसे—बरात जिमानेका, ठहरानेका आप समाचार दे देना हम हाजिर हो जायँगे, सिर्फ हमें मालूम हो जाना चाहिये। तब वे आदमी भेज देते और वह आ जाता तथा जो काम कहते, कर देता। त्रेता युग गया तो काम और ढीला हो गया। अपने पिता मर गये तो वे बैठने आये, तब पूछा कि साहब आपके पास दरी है। बोले हाँ पड़ी है, अभी तो किसीको नहीं दी है, घरपर आइये आपका नाम लिख लेंगे।

सत्ययुगमें अपनी चीज खुद दूसरोंके घरपर लाकर रख देते। त्रेतायुगमें अपनेसे कह देते कि दरकार हो तो भिजवा देंगे और द्वापरमें तो माँगनेपर देना स्वीकार कर लेते और कलियुगमें तो हाँ भरकर भी मना कर देते हैं। अपने सत्ययुगका-सा भाव हृदयमें रखेंगे तो त्रेता और

द्वापरतक पहुँच सकेंगे। यानी त्रेता या द्वापर-जैसा व्यवहार कर सकेंगे। श्रीरामचन्द्रजी सत्ययुग-जैसा व्यवहार अपने भाइयोंके साथ और सबके साथ करते थे। हमलोग सत्संगकी जो ये बातें सुनते हैं और सुनकर उनको काममें लायें तो हमलोगोंके कल्याण होनेमें कोई शंका नहीं है। हम जो भगवान्‌की भक्ति करते हैं, उसमें स्वार्थ त्यागकर भगवान्‌की निष्काम भक्ति करें तो हमारे कल्याणमें कोई शंकाकी बात नहीं। सत्संगका, भगवान्‌का, शास्त्रका, गीताका किसीका भी आधार मानकर आश्रय लेकर करे तो कल्याण हो सकता है। फिर किसी काममें भी लग जाय तो अपने कल्याणमें कमी क्या है? भगवान्‌की शरणका एक अंश भी धारण कर लेवें तो हमारा कल्याण हो सकता है और यदि हम सब प्रकारसे भगवान्‌की शरण हो जायँ तो हमारा कल्याण हुआ ही पड़ा है। एक अंश क्या? कि हम भगवान्‌के विधानको देख-देखकर प्रसन्न होते रहें कि जो भी कुछ हो रहा है—अनिच्छासे, परेच्छासे, सब भगवान्‌की लीला है। सबमें भगवान् विराजमान हो रहे हैं या सब भगवान्‌के स्वरूप हैं और यह जो कुछ भी हो रहा है वह भगवान्‌की लीला है—ऐसा समझकर हम यदि हर वक्त मुग्ध होते रहें, यह भगवान्‌की भक्तिका एक अंश है। या हम भगवान्‌को हर वक्त याद रखें, भगवान्‌के भजन-ध्यानमें इस प्रकार लग जायँ कि अपने-आपका होश ही नहीं रहे। भगवान्‌में रत हो जायँ तो हमारा कल्याण हो जाय। भगवान्‌ने कहा है—**'तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्।'** जिसने मुझमें चित्त लगा दिया उनका मैं मृत्युरूप संसारसे उद्धार कर देता हूँ। या भगवान्‌की आज्ञाके पालनके परायण हो जाय तो भी कल्याण हो सकता है। ऐसा बन जाय कि जो कुछ करना है भगवान्‌के लिये ही करना है, अपना कुछ भी काम नहीं, अपने स्वार्थका त्याग करके निष्कामभावसे भगवान्‌के लिये काममें लग जाय। भगवान्‌का ही काम

करे, भगवान्‌के लिये ही काम करे, भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार ही काम करे। अपना कोई प्रयोजन नहीं हो तो भगवान्‌की आज्ञाके पालनसे कल्याण हो सकता है। भगवान्‌का ध्यान निरन्तर करनेसे भी कल्याण हो सकता है। भगवान् अपने लिये जो कर रहे हैं उन भगवान्‌की लीलाको देख-देख-करके, भगवान्‌के विधानको देख-देख करके, ऐसा समझे कि भगवान्‌का विधान हमारे लिये मङ्गलमय है। हम स्वार्थरहित हों तो भी हमारा कल्याण हो जाय। अपने लिये मङ्गलमय मानें तो भी कल्याण हो जाय। देख-देखकर खुश हो तो फिर बात ही क्या है? जिस प्रकार भगवान्‌के विषयमें कहा है उसी प्रकार महात्माके विषयमें भी मैंने कितने दृष्टान्त बताये, सबके लिये एक ही बात है। माता पिताको ईश्वर मानकर उनके विधानमें खुश रहे और उनकी सेवा करे। पत्नी पतिको साक्षात् ईश्वर मानकर उसके विधानमें खुश रहे और उसकी सेवा करे। सब कोई अपने कर्तव्यका निष्कामभावसे पालन करें, अपनी ड्यूटी बजावें और समझें, अपनी जिम्मेवारीको समझें तो सबका कल्याण हो सकता है, यह बहुत ही सरल मार्ग है।

निष्कामभावकी सूक्ष्मता

सत्संगमें सत्संगकी बात सुननेवाले जो भाई लोग आते हैं, वे चाहते हैं कि यहाँ आकर लाभ उठायें। वे अपनेको वक्ताका ऋणी समझते हैं, प्राय: वक्ता भी सुननेवालोंपर अपना ऋण समझते हैं, यह मानते हैं कि हम श्रोताका उपकार कर रहे हैं; किंतु ऐसा मानना उनकी भूल है, बल्कि वक्ताको तो यह मानना चाहिये कि श्रोताओंको जो लाभ होता है, उसका श्रेय वक्ताको नहीं; क्योंकि वक्ता तो निमित्तमात्र है—उसके मुँहसे जो उद्गार निकलते हैं, वे शास्त्रोंके आधारपर निकलते हैं और शास्त्ररूपी ज्ञान-धन वक्ताके घरके नहीं हैं। वह धन भगवान्‌के घरका है। अतएव जो उसे अपना धन मानता है, वह चोर है। वक्ताको यह कभी नहीं मानना चाहिये कि मैं बोलता हूँ। भगवान्‌ने उसको बोलनेके लिये जो निमित्त बनाया, यह भगवान्‌की दया है। वक्ताको श्रोताका अपने ऊपर उपकार मानना चाहिये; क्योंकि यदि श्रोता नहीं होते तो वह किसे सुनाता। दूसरी बात यह है कि सुननेवाले जितने अधिक होते हैं वक्ताके हृदयमें उतने अधिक भाव पैदा होते हैं। अत: वक्ताको समझना चाहिये कि सुननेवाले मेरा उद्धार करनेवाले हैं। जो वक्ता ऐसा माने कि मेरा उद्धार हो गया—यह उसकी मूर्खता है। सुननेवालोंको जो लाभ होता है, उससे ज्यादा लाभ वक्ताको होता है। प्रथम भगवद्‌विषयक भाव वक्ताकी बुद्धिमें आते हैं। बुद्धिका कुछ भाव मनमें, मनका कुछ ही अंश वाणीमें आता है, वह भी सब-का-सब कह नहीं सकता। जो कहता है, वह श्रोता पूरा सुन नहीं पाता—मन इधर-उधर चला जाता है। जो सुना गया, मन उसका पूरा मनन नहीं कर सकता। जो मनन

किया, उसका थोड़ा ही निश्चय बुद्धिमें आता है। जो निश्चयमें आया, वह सब-का-सब धारण नहीं होता। अतएव यह समझना चाहिये कि वक्तामें जितने भाव पैदा होते हैं, उतने श्रोताओंमें नहीं। इस न्यायसे वक्ताको श्रोताकी अपेक्षा विशेष लाभ है। श्रोता वक्ताकी थोड़ी-सी बात सुनकर अपने ऊपर वक्ताका उपकार मानता है, किंतु वक्ताको तो श्रोताओंका अपने ऊपर विशेष उपकार मानना चाहिये। यदि श्रोताओंके माननेकी बात वक्ता स्वयं मानने लगता है, तो भगवान् नाराज होते हैं। अतएव अपने-अपने कर्तव्यका पालन करना चाहिये।

श्रोता हो या वक्ता दोनोंके लिये मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाकी प्राप्तिकी अभिलाषा बड़ी बुरी चीज है। यह देखनेमें तो अमृतके समान है, परंतु परिणाममें विषके समान है।

मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा मिलनेपर तो आनन्द आता है, परंतु है वह चीज बहुत बुरी। विषका लड्डू खाते समय तो मीठा लगेगा, पर नतीजा मृत्यु है।

यह बात युक्तियोंसे समझमें आनेपर भी इसका त्याग नहीं होता। जैसे कुपथ्य करनेवाला रोगी समझ-बूझकर भी कुपथ्य कर लेता है, परंतु यदि यह बात बार-बार सुनता रहे तो कभी-न-कभी उसके आचरणमें आयेगा ही।

यदि कोई जबरदस्ती उसे मान-बड़ाई दे तो वह उसे कलंक समझे। यदि यह बात उसे समझमें आ जाय तो बेड़ा पार है।

यदि दूसरेके सुखके लिये स्वीकार करना पड़े तो खूब सावधान रहे, किंतु स्वयं प्रसन्न न हो। बड़े जोखिमका काम है। त्यागमें तो लाभ-ही-लाभ है।

यदि किसीने मान-बड़ाईपर विजय प्राप्त कर ली तो उसने संसारको जीत लिया। वह भगवान्‌के नजदीक पहुँच गया।

यदि कोई महात्मा बनना चाहे तो उसे मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाके त्याग

बिना महात्मापन प्राप्त होना कठिन है।

वक्ता यदि ऐसा उपदेश दे जिसमें अपना स्वार्थ हो, उस उपदेशका असर नहीं होता। सुननेवाले सुनें और उनपर असर न हो तो वक्ताका ऐसा मानना कर्तव्य नहीं है कि श्रोता पात्र नहीं है, क्योंकि प्रेमसे नहीं सुनता। सुननेवालोंको दोषी (अपात्र) और अपनेको निर्दोष कभी नहीं मानना चाहिये; क्योंकि ऐसा करनेसे सुनानेवालोंका सुननेवालोंमें श्रद्धा-प्रेम कम हो जायगा, जिससे नुकसान होगा। प्रत्येकको यह विचार करना चाहिये कि थोड़ा भी अपना दोष हो तो उसे पूरा स्वीकार कर लेना चाहिये। यह शिक्षा हमें भरतजीसे लेनी चाहिये। भरतजी कहते हैं—

कपटी कुटिल मोहि प्रभु चीन्हा। ताते नाथ संग नहिं लीन्हा॥
बीतें अवधि रहहिं जौं प्राना। अधम कवन जग मोहि समाना॥

जो अच्छे पुरुष होते हैं वे दोषको अपने ऊपर ले लेते हैं। कोई भी जिज्ञासु बनकर वक्ताके पास अपना अज्ञान दूर करानेके लिये जाता है तो वक्ताका कर्तव्य है कि उसका अज्ञान दूर करे। यदि वह उसका अज्ञान दूर नहीं कर सके तो वक्तामें समझानेकी कमी है। यह समझना चाहिये कि योग्यता होती तो उसका अज्ञान दूर हो जाता।

महात्माओंकी अलग-अलग कोटि होती है। जैसे एक साधक महात्मा होते हैं, जो भगवान्‌की प्राप्तिके निकट हैं। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥

(गीता ९। १३)

परंतु हे कुन्तीपुत्र! दैवी प्रकृतिके आश्रित महात्माजन मुझको सब भूतोंका सनातन कारण और नाशरहित अक्षरस्वरूप जानकर अनन्यमनसे युक्त होकर निरन्तर भजते हैं।

जो ऐसे साधक हैं, वे महात्मा बननेवाले हैं। दूसरे वे हैं, जो

वास्तवमें महात्मा बन चुके हैं। तीसरे वे हैं, जो दूसरोंको भी परमात्माकी प्राप्ति करा सकते हैं। वे ज्ञानी महात्मासे श्रेष्ठ हैं। चौथे कुछ ऐसे हैं, जो भगवान्‌के घरसे अधिकार लेकर आये हैं, जैसे भगवान्‌के दर्शन, स्पर्श तथा चिन्तनसे कल्याण हो जाता है, वैसे इनके दर्शन तथा स्पर्श आदिसे भी कल्याण हो जाता है।

यदि वक्ताके द्वारा श्रोताको विशेष लाभ नहीं होता तो वक्ता यह समझे कि मैं तो साधक हूँ और आप श्रोता भी साधक हैं। यदि मेरेमें करामात होती, शक्ति होती तो आपपर विशेष प्रभाव पड़ता। भगवान्‌ने बताया है—'ऐसा भक्त मुझे प्रिय है।' भगवान्‌ने अपने प्रिय भक्तके जो लक्षण बतलाये हैं, वे लक्षण जिसमें हों, उनका असर दूसरेपर पड़ता है। जैसे सूर्यमें प्रकाश और गर्मी है, चन्द्रमामें शीतलता और प्रकाश है। उनका असर पड़ता है। जिसमें जो चीज होगी, वह उससे मिलेगी। वास्तवमें सच्चा महात्मा होता तो उसका असर पड़ता।

वक्ता महात्मा या साधक भी होता है। यह बात दूसरी है कि पात्र-भेदसे श्रोता वक्तापर अलग-अलग कल्पना कर सकता है। विपरीत श्रद्धावाला किसीके व्याख्यानको सुनकर एक कहता है—दंभ-पाखंड है। दूसरा कहता है—दंभ-पाखंड नहीं है, यह तो दुकानदारी है। तीसरा कहता है—दूकानदारी नहीं, क्योंकि रुपया-पैसा नहीं लेते, केवल ये मान-बड़ाई, पूजा, प्रतिष्ठा चाहते हैं; इसीलिये ऐसा करते हैं। चौथा कहता है—यह ठीक नहीं है। ये तो संसारमें अपने नामकी कीर्ति चाहते हैं। पाँचवाँ कहता है—ऐसा दोष क्यों लगाते हो? ये तो जिज्ञासु हैं—**'बोधयन्तः परस्परम्'** इस भगवद्‌वचनके अनुसार भगवद्‌विषयक चर्चा भगवान्‌के पास पहुँचनेके लिये करते हैं। छठा कहता है—ये तो अपने अनुभवकी बातें सुनाते हैं। इन्हें अनुभव हो चुका है, हमारे हितके लिये सुनाते हैं। सातवाँ कहता है—तुम भी नहीं समझे—ये साधन करके महात्मा थोड़े ही बने हैं, ये तो

भगवान्‌के घरसे संसारके लोगोंका उद्धार करनेके लिये अधिकार लेकर आये हैं। ऐसा अलग-अलग भाव होता है। सुननेवालोंके लिये समय, स्थान, व्याख्यान—सब एक ही हैं, पर भावकी भिन्नताके कारण वे लाभ-हानि अलग-अलग उठाते हैं।

वक्ताको श्रोताकी योग्यतापर खयाल नहीं करना चाहिये। उसे अपने ही विषयमें सोचना चाहिये कि यदि मुझमें योग्यता होती तो भगवान् जरूर ध्यान देते। वास्तवमें वक्ताके हृदयमें ऐसा भाव हो तो लोगोंका कल्याण हो जाय। मान लो दिखाऊपनेमें भाव तो है कि लोगोंका कल्याण हो, किंतु लोगोंका कल्याण नहीं होता तो लोगोंका कसूर है—ऐसा मानना वक्ताके लिये कलंक है।

सत्संगमें लोग आते हैं, भगवच्चर्चा होती है, भगवच्चर्चा सुननेवाले प्रधान हैं। बहुतसे आदमी रुपया, कपड़ा या किसी स्वार्थकी सिद्धिके लिये आते हैं। स्वार्थ सिद्ध हो गया तो खाता डेढ़ा हो गया, पर जो सत्संगके लिये, अपनी आत्माके कल्याणके लिये आते हैं वे सत्संगकी बात सुनेंगे और उसे काममें लायेंगे तो उनकी आत्माका कल्याण होगा। यदि कल्याणका भाव लेकर आये और समय लगाया तथा जो लाभ होना था, वह हुआ नहीं तो इसकी जिम्मेदारी वक्तापर रही, वक्ता श्रोताका ऋणी रहा। वक्ता यदि कहे कि मैं अधिकारी नहीं, मेरेमें योग्यता नहीं है। इसमें प्रमाण है कि इस विषयका यदि अधिकारी होता तो सुननेवाले अधिकारी हो जाते। इतना कह देनेपर भी वक्ता श्रोताके ऋणसे तबतक मुक्त नहीं हो सकता, जबतक सुननेवालेपर यह असर है कि हम अध्यात्मविषयक लाभ उठानेके लिये यहाँ आये हैं। ये लाभ पहुँचानेके पात्र हैं, हमको लाभ पहुँचा सकते हैं—यह धारणा है। वक्ता अपने शब्दोंसे अपनी जिम्मेदारी दूर कर देता है, पर वह अलग नहीं होता—यह ऋण है। इसलिये वह अपनेको आभारी मानता है, फिर भी

श्रोताका ऋण तो रहता ही है।

परमात्माकी प्राप्तिके लिये आना हुआ तो परमात्माकी कृपासे परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। कल्याण हो जाय और उनका अभीष्ट सिद्ध हो जाय तो हमारे ऊपरका भार उतर गया। यदि कहो कि मैंने भूलसे मान लिया तो यह लाभकी बात है। भगवान् समझेंगे कि भार तो मुझपर था, इसने अपना मान लिया तो अच्छी बात है।

इसमें और भी रहस्यकी बात है। जैसे—अपनी सामर्थ्यकी बात नहीं, पर भगवान्‌की तो सामर्थ्यकी बात है, उनको तो सोचना चाहिये। जब वक्ताका अपना कोई स्वार्थ नहीं रह जाता, वे भगवान्‌से इसकी दलाली भी नहीं माँगते, शुद्ध भावसे लोगोंका कल्याण चाहते हैं, तब आपके सिरका भार समझकर भगवान्‌को तो सोचना चाहिये। भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, भगवान्‌की उपासना, भक्ति करनी चाहिये। उनसे कल्याण हो सकता है। सुननेवाला वक्ताकी प्रशंसा करे, वक्ता खुश होवे, तो भगवान् समझते हैं इसका भार यह खुद उतारेगा। वास्तवमें वक्ताका ऐसा भाव होना चाहिये कि ये लोग वास्तवमें कल्याणके लिये आये हैं, तो भगवान्‌का भजन, ध्यान करें। श्रोता वक्ताकी प्रशंसा करते हैं तो उसे खटकनी चाहिये।

कोई भी भूल नहीं हो और भूल मान ले तो उसमें मेरा कोई नुकसान नहीं है। वैसे मेरे ऊपर कोई भार न हो और अगर मान लिया तो मेरा नुकसान नहीं है। भगवान् सर्वज्ञ हैं, वे समझते हैं कि इनका उद्धार न होनेसे यह अपने ऊपर भार मानता है। जो भगवान्‌की प्राप्तिके उद्देश्यसे, अपनी आत्माके कल्याणके उद्देश्यसे यहाँ आता है, उसके उद्देश्यकी पूर्ति हो जाय तो मेरा अपने ऊपर भार लेना आप गलत मान सकते हैं। श्रोताके अभीष्टकी सिद्धि नहीं हो तो उस ऋणकी पूर्ति भगवान् कर सकते हैं। वे सर्वशक्तिमान् हैं, हमारी कोई गलती न हो

तो भगवान्‌को बाध्य होकर उनके भावके अनुसार लाभ देना चाहिये। यदि नहीं हो तो भगवान् समझते हैं कि वक्ता मेरी भक्तिका बहाना करके अपनी मान-बड़ाई, पूजा-प्रतिष्ठा कराता है। भगवान् अपनी स्वयंकी जिम्मेदारी नहीं समझते। निर्दोष आदमीकी सिफारिश चलती है। हमारी यह धारणा है कि वहाँ सिफारिशकी भी आवश्यकता नहीं। वास्तवमें वक्ता निर्दोष हो और भगवान् नहीं आये तो वहाँ भगवान् अपनी गलती मान लेते हैं। जैसे प्रह्लादके सामने भगवान्‌ने अपनी गलती स्वीकार की। प्रह्लादजीकी दृष्टिमें भगवान्‌की कोई गलती मालूम नहीं देती। भगवान् मान सकते हैं, क्योंकि यह उनकी सौजन्यता है।

प्रत्येक काममें अपना दोष समझना चाहिये। उसमें उसका कल्याण है—यह न्याय है। दोष नहीं हो और मान ले तो भगवान् दण्ड नहीं देते। दोषको स्वीकार कर लेनेसे उसका प्रायश्चित्त हो जाता है—हलका हो जाता है।

अपने ऊपर भार स्वीकार करे। अधिक भार हो तो कोई-न-कोई तो निपटारा होगा ही।

मैं सभी लोगोंसे सेवाके रूपमें निवेदन करता हूँ—शास्त्रोंको ध्यानमें रखकर अपनी साधारण बुद्धिसे जो समझमें आता है, वह सबके सामने रखता हूँ। गीता भगवान्‌की बात है। शास्त्रोंकी बात ऋषियोंकी बात है, उसका हम लोग पालन करें तो यह युक्तिसंगत, शास्त्रसंमत है कि साधन करनेसे हमारा कल्याण हो सकता है, यह निश्चित बात है। यह बात जोरसे कही जा सकती है। लेखमें, अखबारमें कोई प्रचार करे तो इसमें मुझे लज्जा, संकोचकी बात नहीं। मेरे लिये तो प्रसन्नताकी बात है। शास्त्रकी बात—ऋषियोंकी बात कहता हूँ और अपनेको ऋणी मानूँ तो मैं ऋणसे भी मुक्त हूँ। शास्त्रके अनुसार आप साधन करें तो आपका कल्याण हो जाय—फिर मुझपर ऋण कहाँ रहा? आपकी हमारे ऊपर

दया हो तो ऋणसे मुझे मुक्त करनेका रास्ता है।

अपने शरीरकी—नाम-रूपकी पूजासे यदि कोई खुश हो तो वह खतरेकी चीज है। ऐसा करके आप अपनेको ऋणी बनाना चाहते हैं। मैं यदि इच्छा करूँ कि मेरी पूजा-प्रतिष्ठा करो तो हमारे ऊपर ऋण भी चढ़ा और हमारे लिये खतरेकी चीज भी हुई। उसके लिये भगवान् जिम्मेदार नहीं हैं, इसके लिये मैं वाणीसे और बर्तावसे भी निषेध करता हूँ, क्योंकि इसमें मेरा अनिष्ट है। दयालु भाइयोंको दया करनी चाहिये। आप सभी मेरे नाम-रूपकी पूजा-प्रतिष्ठा करके क्या मेरा हित करते हैं? हमारी निन्दा या अपमान करें तो हमारा हित है। कबीरदासजी तो यहाँतक कहते हैं कि निन्दकको कुटिया बनवाकर अपने निकट बसाना चाहिये। हम लोग भी ऐसा करें तो सौभाग्यकी बात है। इससे यदि हमारा कार्य निन्दाके योग्य हो तो सुधार हो जाता है। निन्दकको गुरु समझकर अपना दोष दूर करना चाहिये। दोष नहीं है तो दण्ड नहीं है। दोष सुनकर बरदाश्त नहीं कर सकना हमारी कमजोरी है। जहाँ हमारी मान-बड़ाई, पूजा-प्रतिष्ठा हो; वहाँ विरोध करना चाहिये।

जो मेरी इच्छाके अनुसार मेरे शरीरकी सेवा कर दे, आराम पहुँचा दे, उसका मैं आभारी तो हूँ, पर उसके लिये यह बात नहीं कि मेरी सेवा करनेसे, आराम पहुँचानेसे उसका कल्याण हो जायगा। निष्कामभावसे करे तो कल्याण हो सकता है। निष्कामभावसे सेवा करे तो एक कुत्तेकी सेवा करनेसे भी कल्याण हो सकता है। निष्कामभावका माहात्म्य है—

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्। (गीता २। ४०)

इस कर्मयोगरूप धर्मका थोड़ा-सा भी साधन जन्म-मृत्युरूप महान् भयसे रक्षा कर लेता है।

अपनी आत्माके कल्याणकी इच्छा निष्कामभाव है। परमात्माकी

प्राप्तिके उद्देश्यसे, आत्माके कल्याण—परमात्माके दर्शनके उद्देश्यसे प्रवृत्ति हो तो वह दोषयुक्त नहीं है। महात्माका भाव समझमें आ जाय तो **'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्'** के अनुसार कल्याण हो जाता है; वास्तवमें मुक्तिकी इच्छा भी विलम्ब करानेवाली है, यह सूक्ष्मभाव है।

हम ऐसा मान लें कि मुक्ति तथा परमात्माके दर्शनकी कामना न रखे तो भय यह है कि जो कुछ वह करता है, उसे भी छोड़ बैठेगा। हमारी आत्माके कल्याणकी इच्छाकी अपेक्षा दुनियाके कल्याणकी इच्छा उच्च कोटिकी है। साथमें यह भाव हो कि दुनियाके कल्याणके साथ-साथ हमारा भी कल्याण हो तो इसमें भी अपनी कामनाका अंश आ गया। वास्तवमें निष्कामभाव महात्मा हुए बिना समझमें नहीं आता। भाव तो निष्काम है, जनाता है तो निष्कामी नहीं है और जानता है तो निष्कामी नहीं। अपनेको निष्कामी जानना, मानना, अपने-आपको निष्कामी कायम करना—यह सब कामना है। अहंकारके द्वारा होनेवाला कर्म है। मान्यता है अहंकारका दोष आ गया इसलिये कर्म हो गया। निष्कामभावकी सूक्ष्मता सूक्ष्मतमसे भी सूक्ष्मतम है।

विशेष बात

सत्संगमें जहाँ विद्वान् लोग व्याख्यान देने आते हैं, वहाँ जहाँतक हो सके व्याख्यान नहीं देना चाहिये। वहाँ व्याख्यान देना तो बाजारू व्याख्यान है; क्योंकि वहाँ व्याख्यान देनेवाले बहुत हैं। घंटी बजायी जाती है, क्योंकि उसमें समय सीमित है। वक्ताको शास्त्रीय युक्तियुक्त प्रामाणिक बात बतानी, लोगोंके कल्याणका मार्ग प्रशस्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिये और श्रोताको आत्म-कल्याणके लिये वक्ताकी शास्त्रोंकी युक्तियुक्त प्रामाणिक बातोंको आचरणमें लाकर आत्मकल्याणका मार्ग प्रशस्त करना चाहिये।

सत्संगका रहस्य

सत्संग चार प्रकारका होता है। गोस्वामी तुलसीदासजीने उच्चकोटिके सत्संगकी महिमा लिखी है—

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

(रा० च० मा० ५। ४)

हे तात! स्वर्ग और मुक्ति—इन दोनोंको तराजूके एक पलड़ेमें रखा जाय और एक पलड़ेमें एक क्षणका सत्संग रखा जाय तो स्वर्ग और मुक्तिका सुख एक क्षणके सत्संगकी तुलनामें कुछ नहीं है।

संगका एक अर्थ है प्रीति और दूसरा अर्थ है साथ। भगवान्‌का यदि संग मिल जाय या भगवान्‌के साथ रहना हो जाय अथवा भगवान्‌में प्रेम हो जाय, भगवान्‌का प्रेमपूर्वक संग असली सत्संग है। बिना प्रेमके संगका कोई मूल्य नहीं है। दुर्योधन आदिका भगवान् श्रीकृष्णमें न तो प्रेम था और न श्रद्धा थी। बिना प्रेम या बिना श्रद्धाके दुर्योधन आदि-जैसे लोगोंका भगवान् श्रीकृष्णके साथ संग भी हो जाय तो वह सत्संग नहीं है। और यदि प्रेम है, तो भगवान् दूर भी हों तो भी वे नजदीक ही हैं, जैसे गोपियाँ रहतीं वृन्दावनमें और भगवान् रहते द्वारकामें, लेकिन इतनी दूर होनेपर भी प्रेम होनेके कारण वह सत्संग है। श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भगवान्‌के साथमें रहना हो तो वह तो एक नम्बरका है ही। श्रद्धा प्रेमके होनेपर चाहे दूर भी रहना पड़े पर भगवान्‌में प्रेम बना रहे, जैसे गोपियोंका श्रीकृष्णके साथ प्रेम था, यह उत्तम दर्जेका सत्संग है। इसके बाद दूसरे नम्बरका सत्संग है '**भगवत्संगिसंगिनाम्**' भगवत्संगी

माने भगवान्‌का संगी अर्थात् भगवान्‌के जो साथी हैं, भगवान्‌ने जिन महापुरुषोंको संसारके उद्धारके लिये यहाँ भेजा है या जो भगवत्प्राप्त पुरुष हैं, भगवान्‌ने जिन पुरुषोंके ऊपर उद्धारका भार दे दिया है, वे चाहे भगवान्‌के भेजे हुए हों अथवा यहाँपर ही भगवत्प्राप्त हों, ऐसे पुरुषोंका संग भी दूसरे नम्बरका केवल कथनमात्रके लिये ही है। एक प्रकारसे यह संग भी बहुत ही ऊँचे दर्जेका है। ऐसा भी न मिले तो तीसरे नम्बरका सत्संग वह है जिनको भगवान्‌की प्राप्ति हो चुकी है, दूसरोंका उद्धार करनेकी शक्ति उनको भगवान् ने तो नहीं दी है, परंतु उनमें श्रद्धा करके साधक अपनी शक्तिके अनुसार ही लाभ उठा सकते हैं। उन भगवत्प्राप्त पुरुषमें जिनकी श्रद्धा और प्रेम है, वे अपनी श्रद्धा-प्रेमके बलपर वैसा ही लाभ उठा सकते हैं। यह तीसरे नम्बरका सत्संग है। चौथे नम्बरका सत्संग उच्चकोटिके साधक पुरुषोंका है। भगवत्प्राप्तिके मार्गमें चलनेवाले जो साधक हैं, उनमें भी यदि हमारा श्रद्धा-प्रेम हो जाय तो हमें भगवत्प्राप्ति हो सकती है। गौणी वृत्तिसे सत्पुरुषोंके अभावमें सत्-शास्त्रोंका संग भी सत्संग है।

प्रथम श्रेणीके एक क्षणके सत्संगकी तुलनामें मुक्ति भी कोई चीज नहीं है, यह तुलसीदासजी महाराजका कथन है, उनका सिद्धान्त है तथा उनकी मान्यता है। उन पुरुषोंके एक क्षणके सत्संगकी जो इतनी महिमा है, वास्तवमें उसे तो तुलसीदासजी ही जानते हैं। हमलोग तो इसका केवल अनुमान ही कर सकते हैं। भगवान् और भगवान्‌से अधिकार-प्राप्त महापुरुषका तो संसारमें विचरण ही परम धर्मरूप भक्ति, अमृतरूप भक्ति, एवं निष्कामधर्मका प्रचार करनेके लिये है, जिससे जीवोंका कल्याण हो। जैसे राजा कीर्तिमान् बहुत उच्चकोटिके हुए। उनका संग जिनको हो गया, उनका भी उद्धार हो गया। मनमें यह विश्वास हो जाय कि ऐसे पुरुषोंका संग होता रहे, इसके लिये चाहे

नरकमें ही क्यों न रहना पड़े। इसपर एक राजाकी कथा याद आ गयी। भगवान्‌के दूत भगवान्‌के उस भक्तको परमधाम ले जा रहे थे, रास्तेमें नरक आ गया, वहाँ नरकके जीवोंका आर्तनाद सुनकर उन्होंने पूछा—'ये कौन रो रहे हैं?' दूतोंने कहा—'यह नरक है, यहाँके नारकीय जीव रो रहे हैं, बड़े दुःखसे आर्तनाद कर रहे हैं।' उन्होंने कहा—रास्तेमें आ ही गया तो चलो उनके भी दर्शन कर लें।' वहाँ गये और उनके जाते ही उनकी हवा लगनेसे ही उनकी नरककी यातना बंद हो गयी। यातना कायम रहते हुए भी एकदम बंद हो गयी। यानी यातनाका कोई असर उनपर नहीं होता। जो अस्त्र-शस्त्र हैं, जिनके द्वारा उन्हें तकलीफ दी जाती थी, काटा जाता था, उनमें धार नहीं रह गयी। नरककी ज्वाला एकदम शान्त हो गयी, नारकी जीव उनसे प्रार्थना करने लगे कि 'आपके आते ही बड़ी शान्ति हो गयी है। यहाँकी जलन शान्त हो गयी है। यहाँकी यातना एकदम निष्प्रभ हो गयी है, इसलिये आप थोड़ी देर यहाँ और ठहरें।' उन्होंने सोचा कि 'मेरे ठहरनेसे यदि इन जीवोंको इतना सुख मिलता है तो मुझे करना ही क्या है। हम इस नरकमें ही ठहरेंगे।' वे वहाँ रुक गये, तब दूत बोले—'भगवान्‌के धाममें चलें।' वे बोले—'हम तो भगवान्‌के धाममें नहीं जायँगे। हम तो यहीं ठहरेंगे।' दूत बोले—'क्यों?' वे बोले—'ये बेचारे दुःखी हैं, हमारे रहनेसे उन्हें यदि सुख मिलता है तो हमारे लिये तो जैसे भगवान्‌का धाम है वैसे ही यह नरक-धाम है।' दूत बोले—'तो हम वहाँ जाकर क्या कहें।' वे बोले—'जाकर कह दो कि यदि ये सब नारकीय जीव आपके धाममें आ सकते हैं तो उनके साथ मैं भी आ सकता हूँ, अन्यथा मुझे यहीं रहना है, आपके धामकी मुझे कोई जरूरत नहीं है।' यहाँ सबको उस भक्तने आर्डर दे दिया कि 'सब लोग मिलकर भगवान्‌के नामका संकीर्तन करें। अबतक तो तुम आर्तनाद करते थे, पर अब भगवान्‌के

नामका कीर्तन करो।' यह सुनकर सभी कीर्तन करने लगे। कीर्तन करनेसे उनके पहलेके जो संचित पाप थे, सब नष्ट हो गये और प्रारब्धमें जो यातनाका भोग था, वह सब भी नष्ट हो गया। उधर वे सब दूत भी भगवान्‌के धाममें पहुँच गये और बोले कि 'महाराज! वे भक्त तो वहीं ठहर गये, उन्होंने कहा कि अगर सब नारकीय जीव आ सकते हों तो मैं भी आ सकता हूँ।' भगवान् बोले—'जाओ सबको ले आओ।' उनके संगसे वे सब-के-सब भगवान्‌के परमधाम चले गये। हजारों, लाखों विमान एक साथ भगवान्‌के धाममें पहुँचे, जैसे विवाहके समय बारात पहुँचती है। महापुरुषोंके संगमें नरकमें भी रहना पड़े तो उन नारकीय जीवोंको भी परम सुखकी प्राप्ति हो जाती है। इसीलिये कहा है—

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

इस प्रकारका लवमात्रका—क्षणमात्रका भी सत्संग मुक्तिसे भी बढ़कर है, जैसे उस भक्तके लिये नरकका वास भी मुक्तिसे बढ़कर हुआ, भगवान्‌की प्राप्तिसे बढ़कर हुआ। भक्तको भगवान्‌के मिलनेकी भी परवाह नहीं, उन्हें परवाह इस बातकी है कि मेरे रहनेसे ये कितने सुखी हो रहे हैं। यह अत्यन्त उच्चकोटिका भाव है। ऐसा भाव यदि हम लोगोंका हो जाय तो भगवान्‌के परमधाममें जानेके लिये हम लोगोंको प्रार्थना नहीं करनी पड़े। यहाँका स्थान ही हम लोगोंके लिये परमधाम हो जाय या भगवान् स्वयं आकर अपने परमधाममें ले जायँ। इस आमन्त्रणकी भी अपनेको जरूरत नहीं है। अपनी आवश्यकता तो यह है कि जो जीव दुःखी हैं, उनका किसी प्रकारसे कल्याण हो।

इस बातका हम कई बार अनुभव करते हैं कि एक दुःखी आर्त गरीब जीव मरते समय बुलाता है तो उसके घर जाना पड़ता है और

कोई एक धनी आदमी है, लखपति-करोड़पति है तो उनके यहाँ भी जाना पड़ता है। किंतु गरीबके यहाँ जानेमें जो एक प्रकारकी शान्ति मिलती है, वह शान्ति धनी आदमीके यहाँ जानेमें नहीं मिलती। क्योंकि गरीब आदमीके चित्तमें इतना उत्साह और प्रेम होता है, सोचता है कि देखो, मैं एक तुच्छ आदमी हूँ और ये इतने बड़े आदमी मेरे घर आये, आज मैं किसके समान हूँ। जैसे भगवान् श्रीरामचन्द्रजी अनेक रूप धारण करके क्षणमात्रमें सभी लोगोंसे मिले। मानसमें आया है—

छन महिं सबहि मिले भगवाना। उमा मरम यह काहुँ न जाना॥

(रा० च० मा० उ० ६। ७)

'भगवान् एक क्षणमें अमित रूप धारण करके एक-दूसरेसे मिले। भगवान् एक क्षणमें ही सबसे मिल रहे हैं, इसका मर्म कोई नहीं समझा।' मर्म यह था कि भगवान् अनन्त रूप धारण कर सबसे मिल रहे थे। भगवान् जिससे मिलते वह यही समझता कि भगवान् मुझसे ही मिल रहे हैं। उसे आश्चर्य होता कि मुझ-जैसे तुच्छ मनुष्यसे भगवान् सबसे पहले मिल रहे हैं। इस अनुभवसे उसे बड़ा आश्चर्य और साथमें आनन्द भी होता था। इस प्रकारका भगवान्का मिलन अलौकिक है। ऐसे ही एक गरीब आदमीसे कोई महान् पुरुष मिले तो उसे भी बड़ा भारी आनन्द आता है। उसके सुखसे सुखी होना आनन्दकी पराकाष्ठा है। एक तो भगवान्से मिलना हो और एक हमारे मिलनेसे उसे भगवान्के मिलनेके समान ही सुख हो तो हमारे लिये यह बात ज्यादा मूल्यवान् है। क्योंकि भगवान्से मिलनेका जो सुख और आनन्द है, उससे भी बढ़कर यह बात है। कारण, उसके लिये तो हम ही भगवान् हो गये। हम सम्पूर्ण संसारको आनन्द देनेवाले भगवान्को आनन्द दें, भगवान् सबको आह्लादित करते हैं और हम भगवान्को आह्लादित करते रहें तो जैसे वह हमारे लिये गौरवकी बात है, वैसे ही

भगवान्‌के लिये भी यह गौरवकी बात होगी कि वह अपने भक्तको आह्लादित करते हैं और भगवान्‌के लिये इससे बढ़कर और कोई बात नहीं है; क्योंकि ऐसा जो प्रेमी भक्त है उस प्रेमीको आह्लादित करनेमें भगवान्‌को सुख-शान्ति मिलती है, यद्यपि यह समझनेके लिये कथनमात्र है, भगवान् तो आनन्दरूप ही हैं।

भगवान्‌को सुख-शान्तिकी कमी कभी नहीं है, तथापि भक्तोंके संगसे भगवान्‌को जो सुख-शान्ति मिलती है, वह अन्यत्र सम्भव नहीं। भक्तोंमें भी ऐसा भक्त जो भगवान्‌का दर्शन करके मुग्ध हो जाता है, आह्लादित हो जाता है, इतना ही नहीं, अपनी सेवाके द्वारा, चेष्टाके द्वारा, क्रियाके द्वारा, लीलाके द्वारा वह भगवान्‌को मुग्ध करता रहता है, वही उसके लिये श्रेयस्कर है। क्योंकि एक तो भगवान्‌का दर्शन करके मैं आनन्दमग्न हूँ और एक मैं भगवान्‌को सुख पहुँचा करके आनन्दमग्न हूँ। सारी दुनियाको आनन्द पहुँचानेवाले भगवान्‌को मैं सुख पहुँचा करके आनन्दमें मग्न हूँ। सारी दुनियाको आनन्द पहुँचानेवाले, सबको आह्लादित करनेवाले भगवान्‌को मैं आह्लादित करनेवाला बनूँ तो मेरे लिये यह अत्यन्त सौभाग्यकी बात है। और पुनः भगवान् हमें आह्लादित करनेके लिये लीला करें तो और गौरवकी बात है। हमारे चरित्रका उद्देश्य है भगवान्‌को आह्लादित करना और भगवान्‌की लीलाका उद्देश्य है हमें आह्लादित करना। हमारी चेष्टा भगवान्‌के लिये है और भगवान्‌की चेष्टा हमारे लिये है। हमारे उस प्रयत्नका मूल कारण भगवान् हैं और भगवान्‌का उद्देश्य है हमें खुश करना। हमारी चेष्टासे भगवान् मुग्ध होते रहें और भगवान्‌की चेष्टासे हम मुग्ध होते रहें तो परस्परमें यह अलौकिक प्रेमका विषय है। इसी प्रकार यदि हम कहीं एक मरनेवालेको भगवान्‌का नाम तथा गुण सुनाने जायँ और सुननेवाला मुग्ध हो जाय और वह व्यक्ति चाहे कि उसकी इच्छाकी पूर्ति करनेवाले

हम बनें तो हमारे लिये उससे बढ़कर और कोई सौभाग्यकी बात नहीं है। उस मरनेवालेके लिये तो हम ही भगवान्‌के तुल्य हो गये। उस समय उसके मनमें कभी-कभी ऐसा भाव भी आया करता है कि मैं अभी न मरकर भगवान्‌के गुण-प्रभाव-तत्त्व-रहस्यकी बात सुनता ही रहूँ। इस प्रकार मेरा जीवन मुक्तिसे भी बढ़कर है। उस भक्तके साथ दूसरे भक्तका जो संग है एक तो जो मरनेवाला और सुननेवाला तथा दूसरा सुनानेवाला दोनोंका जो परस्पर प्रेम है, उनकी मुग्धता है—वह मुक्तिसे भी बढ़कर है। वह भी सत्संग है। जिसका स्वयं भगवान्‌के साथ इस प्रकारका संग है, उसकी तो बात ही क्या है। किंतु परस्पर भगवान्‌के भक्तोंका संग चाहे दोनों साधक हों या दोनोंमें एक भगवत्प्राप्त पुरुष और एक जिज्ञासु हो-(मरनेवाला) सुननेवाला जिज्ञासु हो तथा सुनानेवाला भगवत्प्राप्त पुरुष हो तो उन दोनोंके इस मिलनकी अन्तिम अवस्थाको देखनेवाले भी धन्यवादके पात्र हैं। ऐसी झाँकी भी कल्याण करनेवाली है और उसे हम सत्संग ही कहेंगे, जिसकी तुलसीदासजीने महिमा गायी है—

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

(रा० च० मा० ५। ४)

हे तात! स्वर्ग और मुक्तिका जो सुख है, आनन्द है वह तराजूके एक पलड़ेपर और दूसरे पलड़ेपर ऐसा संग, उस एक क्षणके सत्संगके समान मुक्ति भी कोई वस्तु नहीं है। क्योंकि जो मरनेवाला प्राणी है, उसके लिये सत्संगका एक क्षण ही मुक्तिके लिये बहुत है। इस प्रकार उस संगके प्रभावसे हजारों पुरुषोंकी मुक्ति होती रहे, ऐसे पुरुषोंका संग करके अपना जीवन बितायें, ऐसा सत्संग करते रहें तो वह सत्संग हम लोगोंके लिये मुक्तिसे बढ़कर ही है। भगवान् जिन मुक्त जीवोंको साथमें

लेकर स्वयं आते हैं, उन मुक्त जीवोंको हम परिकर कहते हैं। ये जीव भगवान्‌के साथी हो करके संसारमें भगवान्‌के साथ लीला करते हुए अपने समयका सद्व्यय करते हैं और जीवोंका कल्याण करते हैं। अतएव अपनी आत्माके कल्याणमें जो गौरव है, जो महत्त्व है, उससे भी ज्यादा महत्त्व इस बातमें है।

एक आदमी स्वयं भोजन करता है और एक दूसरा व्यक्ति दु:खी, अनाथ, भूखे आदमियोंको भोजन कराता है। भोजन करानेवालेको जो सुख मिलता है वह अलौकिक सुख है। यहाँ सुखका तो कोई भेद नहीं है, किंतु जिज्ञासुओंकी दृष्टिमें इस संगका थोड़ा भेद है। उनकी दृष्टिमें यह संग सबसे उत्तम है, ऐसे संगमें रहकर यदि अपना समय बीते तो वह संग अपनी मुक्तिसे भी बढ़कर है, जैसे भगवान्‌का उच्चकोटिका अनन्य प्रेमी भक्त—*'मुक्ति निरादर भगति लुभाने'* (रा० च० मा० ७। ११९। ७) भक्तिमें मगन रहकर मुक्तिका भी निरादर कर देता है। तात्पर्य यह है कि मुक्ति ऐसे महापुरुषके दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप-चिन्तनसे हो सकती है, उसके आगे मुक्ति कोई चीज नहीं है। ऐसे पुरुषोंकी कीमत मुक्तिसे अधिक है। जो इस तत्त्वको जाननेवाले होते हैं वे भी मुक्तिका निरादर करके उन पुरुषोंका संग करते हैं। अत: भगवान्‌की अनन्य भक्ति मुक्तिसे भी बढ़कर है, भक्तिके मार्गपर चलनेवाले पुरुषोंकी यह दृष्टि है। भगवद्भक्तोंके लिये भगवान्‌में अनन्य भक्तिके समान, अनन्य प्रेमके समान कोई भी पदार्थ नहीं है। उनके लिये तो भगवान्‌की भक्ति साधन और भगवान्‌की प्राप्ति साध्य है। मुक्ति भी साध्य है। भगवान्‌के भक्त भगवत्प्राप्ति और मुक्तिमें भी भेद करते हैं। वे कहते हैं कि मुक्तिके तो कई भेद हैं—भगवान्‌में विलीन हो जाना और भगवान्‌के निकट रहना, भगवान्‌के निकट रहना उस मुक्तिसे भी बढ़कर है; जिसे हम सायुज्य मुक्ति कहते हैं अर्थात्

जो भगवान्‌में मिलन है। यह भक्तोंकी धारणा है कि भगवान्‌के समीप रहना, उनकी लीलामें शामिल होकर रहना यह उस सायुज्य मुक्तिसे भी बढ़कर इसलिये है कि सायुज्य मुक्ति तो धरोहरके रूपमें सदा ही मौजूद है, चाहे जब ले लो, वह सायुज्य मुक्ति अपने लिये ही नहीं, बल्कि दूसरोंके लिये भी दे सकता है। उसका दर्जा भक्तिमार्गवालोंकी दृष्टिमें ऊँचा है। भक्तिमार्गवालोंकी दृष्टिमें भक्तिसे बढ़कर, उस अनन्य प्रेमसे बढ़कर दूसरी कोई वस्तु नहीं है। जहाँ अनन्य प्रेम हो जाता है; वहाँ भगवान्, भक्त और भक्ति तीनों एक ही हो जाते हैं—स्वरूपतः अलग-अलग होते हुए भी तत्त्वतः एक ही हैं। परमार्थिक दृष्टिसे एक ही हैं। स्वयं भगवान् ही एक प्रकारसे मानो तीन रूपोंमें दीख रहे हैं। अभिप्राय यह है कि भगवान्‌का जो चेतन प्रेम है, वह प्रेम ही तीन रूपोंमें बँटा हुआ है। इस प्रकार जो भगवान्‌की प्राप्ति है, मिलन है वह अपने-आपमें अद्भुत एवं अलौकिक है। इसीलिये भगवान्‌की जहाँ सारी चेष्टा भक्तको आह्लादित करनेके लिये होती है, वहीं भक्तकी भी सारी चेष्टा भगवान्‌को आह्लादित करनेके लिये हुआ करती है। जैसे गोपियोंके मध्य राधिकाजी सबसे बढ़कर हैं, उनकी सारी चेष्टा भगवान्‌को आह्लादित करनेके लिये और भगवान्‌की सारी चेष्टा राधिकाजीको आह्लादित करनेके लिये है। राधिकाजी तो साक्षात् भगवान्‌की आह्लादिनी शक्ति ही हैं। जैसे तुलसीदासजी कहते हैं—भगवान्‌की एक शक्ति यदि माया है तो दूसरी शक्ति है भगवान्‌की अनन्य भक्ति या आह्लादिनी शक्ति। वह चेतन है, वही संसारमें अवतारके रूपमें आती है तो उसे आह्लादिनी शक्ति कहते हैं। इसीलिये राधिकाजीको आह्लादिनी शक्ति कहा गया। भगवान्‌का और राधिकाजीका संग उन दोनोंके लिये तो दिव्य है ही साथ ही दर्शकोंके लिये भी यह अलौकिक ही है, क्योंकि वे भी मन्त्रमुग्धके समान ही मुग्ध होते जाते

हैं। और भी जो सखियाँ थीं, वे भी राधिकाजीके साथ मुग्ध हो जाया करती थीं। भक्तिके मार्गमें तो ये अतुलनीय ही हैं। किंतु खयाल करना चाहिये भगवान्‌के प्रेमका यह गुप्त रहस्य तो वर्णनातीत ही है, क्योंकि जिसे यह बात प्राप्त है वह ढिंढोरा नहीं पीटता कि मैं इसका अनुभव करता हूँ। जो ढिंढोरा पीटता है वह वास्तवमें उस स्थितिमें स्थित ही नहीं है। वह तो अपनी मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाके लिये ही संसारको धोखा दे रहा है, जो उसका मिथ्याभिमान है। क्योंकि ऐसा कहना अथवा इसे प्रकाशित करना, भगवान्‌की भक्तिमें कलङ्क लगाना है। जहाँ भगवान् और भगवान्‌के भक्तका एकाङ्गी प्रेम है, अनन्य और विशुद्ध प्रेम है, वहाँ उस पुरुषकी तो बात ही क्या, किसी स्त्रीका भी प्रवेश नहीं हो सकता। राधा-माधवका जो प्रेम है वह अलौकिक प्रेम है। वर्तमानमें ये जो रास वगैरह होते हैं, उनमें वह चीज नहीं है, बल्कि वे तो गौरव घटानेवाले ही होते हैं। इसी भावनासे मैं वर्तमानके रासको देखनेकी मनाही किया करता हूँ। जैसे कोई मनुष्य महापुरुष या भगवान्‌के स्थानमें स्थित होकर मान-बड़ाई-पूजा लेता है, भगवान् समझते हैं कि यह मेरी भक्तिकी आड़में पाप करता है तो भगवान्‌का उससे प्रेम करना तो दूर रहा, वे यह समझते हैं कि यह मेरी भक्तिमें, प्रेममें कलङ्क लगानेवाला पुरुष है, यह आदमी दम्भी, पाखण्डी एवं अत्यन्त निम्न श्रेणीका पुरुष है। भगवान् उसे दण्ड दिया करते हैं। ऐसे पुरुषोंके संगसे सदैव दूर ही रहना चाहिये तथा वास्तविक सत्पुरुषोंका ही संग करना चाहिये।

महात्मासे कैसे लाभ उठावें

प्रश्न—महात्माको कैसे जानें?

उत्तर—ईश्वरकी कृपासे ही महात्माको जाना जा सकता है, श्रद्धा होनेसे महात्माको जाना जा सकता है। ईश्वरसे प्रार्थना करें तो महात्माको जाना जा सकता है। जिसके दर्शन, स्पर्श, भाषणसे अपने ऊपर प्रभाव पड़े, वह महात्मा है। वह चाहे साधक ही हो पर अपने लिये तो महात्मा है।

प्रश्न—महात्माका क्या प्रभाव है?

उत्तर—महात्माका प्रभाव अपरिमित है, जितना आप अनुमान करें उनका प्रभाव उससे भी ज्यादा है।

प्रश्न—महात्माके पास कैसे जायें?

उत्तर—बड़े विनय और नम्रताके साथ महात्माके पास जाना चाहिये। भगवान् कहते हैं—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥ (गीता ४।३४)

उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ, उनको भलीभाँति दण्डवत् प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे।

प्रश्न—महात्माके पास क्या भाव, आशय लेकर जाना चाहिये?

उत्तर—महात्माके पास परमात्माकी प्राप्तिकी आशा लेकर जाना चाहिये।

प्रश्न—महात्मासे क्या प्रश्न करें?

उत्तर—जो-जो शङ्का हो वह प्रश्न करें।

प्रश्न—महात्माके अनुकूल कैसे हों?

उत्तर—श्रद्धा होनेसे अनुकूल हो जाता है।

प्रश्न—महात्मासे सुनी हुई बातको कैसे धारण करें?

उत्तर—जैसे वे कहें वैसे धारण करें। श्रद्धा होनेसे धारण हो जाती है। जबतक श्रद्धा नहीं हो तो विवेक-विचारसे धारण करें, हठसे भी कर सकते हैं, जो बात सुनी है वह काममें लानी है, ऐसा निश्चय करना चाहिये।

प्रश्न—महात्माकी उत्तम सेवा क्या है?

उत्तर—महात्माकी इच्छा संकेत और आज्ञाके अनुसार चलना, यह सबसे उत्तम सेवा है।

समय बहुत कम है, उसमें भी विघ्न बहुत हैं। कोई-न-कोई विघ्न लगा ही रहता है। यहाँ आकर भी बीमार हो जाते हैं। समय अल्प है और विघ्न ज्यादा हैं। अतएव यहाँपर जिस कामके लिये मनुष्यका आना हुआ है, उसे जल्दी कर लेना चाहिये। आयुका भरोसा नहीं, मृत्यु किसीको पहले सूचना नहीं देती। अचानक आ जाती है फिर कुछ बननेका नहीं। जब आग लगती है, तब कुआँ खोदनेसे काम नहीं चलता। पहलेसे कूप खोदकर तैयार रखे तो आग जल्दी बुझ जाती है। हम जो कुछ कर रहे हैं, ठीक कर रहे हैं, यह देख लेना चाहिये। कुछ भी गड़बड़ हो तो सुधार कर लेना चाहिये।

हर एकको विचार करना चाहिये कि देहमें मैं क्या हूँ, क्या कर रहा हूँ और क्या करना चाहिये? संसारके ऐश, आराम, भोगोंके लिये मनुष्य शरीर नहीं मिला है। देहमें जो द्रष्टा साक्षी है, वह आत्माका स्वरूप है। देह अपना स्वरूप नहीं। देहका मान, अपमान, सत्कार आदि अपना

नहीं। देहके मान-अपमानको अपना माननेसे ही मनुष्य दुखी होता है। देहके नाम-रूपकी निन्दा-स्तुति सुनकर सुखी-दुखी होना गलती है। इस प्रकारका ज्ञान परमात्माकी शरणसे भगवान्‌की भक्तिसे होता है, महात्माओंके संगसे होता है। अतएव भगवान्‌की शरण, भगवान्‌की भक्ति और महात्माका सत्संग करना चाहिये—ये उसके उपाय हैं।

ये जितने पदार्थ हैं, हमारे साथ कोई भी जानेवाला नहीं है। इतना ही नहीं, हमारा यह शरीर भी यहीं रह जायेगा। अतएव मनुष्यको यह कोशिश करनी चाहिये कि हमारी आत्माका सुधार हो जाय और लौटकर वापस न आना पड़े। जबतक देहमें प्राण हैं कोशिश करनेपर सब कुछ हो सकता है। मरनेके बाद कुछ नहीं हो सकता। कोशिश करनेपर मनुष्यके लिये कुछ भी असम्भव नहीं। कोशिश करनेसे सफलता अवश्य होगी। ऐसी कोशिश जरूर करनी चाहिये कि मृत्युके पूर्वमें उद्धार नहीं हो सके तो अन्तकालके समय ही उद्धार हो जाय। भगवान्‌का भजन, ध्यान और महात्माओंका, सद्‌वचनोंका संग करनेसे आत्माका कल्याण और उद्धार जल्दी हो सकता है। इसके प्रभावसे अन्तकालमें भगवान्‌की स्मृति होती है।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥ (गीता ८। ६)

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भी भावको स्मरण करता हुआ शरीरका त्याग करता है, उस-उसको ही प्राप्त होता है; क्योंकि वह सदा उसी भावसे भावित रहा है।

भगवान्‌के नामरूपका भाव ही निरन्तर हृदयमें दृढ़ करना चाहिये। यदि अन्तकालका समय जल्दी आ जाय तो मरनेके बाद साधन साथमें रहेगा। ईश्वरका भजन, ध्यान, साधन साथमें रहेगा तो योगभ्रष्टकी गति होगी। अतएव दुर्गुण दुराचार जो डुबानेवाले हैं, उनको हटाना चाहिये।

शरीर और ये बाहरके पदार्थ सब यहीं रह जाते हैं, भजन, ध्यान, सत्संग, स्वाध्याय, सेवा, संयम, ज्ञान, वैराग्य ये उत्तम-उत्तम चीजें हृदयमें रहती हैं और साथ जाती हैं। उसी प्रकार झूठ, कपट, बेइमानी, काम, क्रोधको हटाना चाहिये। ये भी साथमें जाते हैं। जब हमको यह निश्चय हो गया कि बाहरी पदार्थ साथ नहीं जाते तो उन्हींका संग्रह करना चाहिये, जो मरनेके बाद यदि जन्म हो तो काममें आयें। कोशिश तो यही करनी चाहिये कि जन्म हो ही नहीं।

इस घोर कलिकालमें ईश्वरकी भक्ति प्रधान है। भक्तिसे भगवान् अधीन हो जाते हैं। ईश्वरके भक्तोंमें प्रह्लाद एक नम्बर हैं। उनकी कथा प्रसिद्ध है। प्रह्लादजीपर जितने आक्रमण किये गये सब विफल हुए और भगवान्‌को प्रकट होना पड़ा, उनकी भक्ति उच्चकोटिकी निष्काम भक्ति थी।

भगवान्‌की भक्ति तथा ध्यानका कितना प्रभाव है कि उबलता हुआ तेल भी सुधन्वाको नहीं जला सका। अतएव भगवान्‌की भक्ति ही करनी चाहिये। बहुतसे मकान बना लिये, रुपये इकट्ठे कर लिये, शरीर मोटा ताजा कर लिया तो क्या हुआ। हमारे देहमें जो आत्मा है, वह सदाके लिये कैसे सुखी हो, वह उपाय करना चाहिये। हमको यह चेष्टा करनी चाहिये कि भावी दु:ख मिट जाय। मनुष्य योनिके सिवाय और किसी योनिमें यह अधिकार प्राप्त नहीं है कि सदाके लिये सुख शान्ति प्राप्त कर सकें। देवयोनि भी भोगयोनि है, उनको भी आत्माके उद्धारका अधिकार नहीं है। अतएव हमको फालतू काममें समय नहीं बिताना चाहिये। अमूल्य काममें समय लगाना चाहिये। जो वस्तु हमें परमात्माकी प्राप्तिमें सहायक नहीं, उसके लिये समय क्यों बितायें। हमे समयके पूर्व ही अपना काम बना लेना चाहिये अन्यथा घोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा।

हमको निरन्तर भगवान्‌का भजन ध्यान करना चाहिये। सुधन्वा भगवान् श्रीकृष्णके ध्यानसे जलते तेलसे भी नहीं जला। अतएव हमें हरवक्त भगवान्‌का ध्यान करना चाहिये। गोपियाँ चलते फिरते काम करते हर समय भगवान्‌का स्मरण ध्यान करती थीं। हमे ध्यानके समय एकान्तमें एकाग्रचित्त होकर परमात्माका ध्यान करना चाहिये। सब समय ध्यान करें तो और अच्छा है।

महर्षि पतंजलिने ध्यानके लिये बताया है-'**स्थिर सुखमासनम्**' भगवान् गीतामें बताते हैं-

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥ (गीता ६। १३)

एकान्त और पवित्र स्थानमें सीधे बैठकर भगवान्‌के ध्यानमें हर समय मस्त रहना चाहिये। हमारी इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ संसारके पदार्थोंकी तरफ जा रही हैं, बहिर्मुखी हो रही हैं, उन्हें अन्तर्मुखी करना चाहिये। वृत्तियोंको परमात्माके ध्यानमें तन्मय कर देना चाहिये। यहाँ स्वाभाविक शान्ति है ही, ध्यान करें तो और अधिक शान्ति आनन्द प्रतीत होता है। उस समय परमात्माके सिवाय और कोई नहीं रहता, परमात्माके अन्दर ही डूबे हुए रहते हैं, फिर हृदयमें प्रेम-आनन्द समाता नहीं। भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान ऐसे करना चाहिये। भगवान्‌के भजन और सत्संगसे हमारे अन्दर प्रेमका प्रादुर्भाव होनेपर भगवान् दर्शन देते हैं।

पात्रता एवं श्रद्धा

परमात्माकी प्राप्तिके लिये पात्रता एवं श्रद्धाकी अतीव आवश्यकता है। इसके विषयमें एक सुनी हुई कहानी है। कहोड नामके एक वेदपाठी ब्राह्मण थे और उनके पुत्रका नाम था अष्टावक्र। अष्टावक्र जब अपनी माँके पेटमें था, उस समय गर्भस्थ बालक अष्टावक्र अपने पिताके मुखसे वेदका अशुद्ध पाठ सुनकर अपनी माँके मुखसे अपने पिताकी अशुद्धि बताने लगा। इसपर पिताको क्रोध आ गया और बोला कि अरे गर्भस्थ शिशु अभी तो तू पैदा ही नहीं हुआ, अपनी जननीके पेटके भीतरसे बोल रहा है! कहोडको इसमें अपना अपमान मालूम हुआ, यद्यपि बात ठीक थी। क्रोध आनेपर उसने अपनी पत्नीके उदरपर लात मारी, जिससे उस गर्भस्थ बच्चेके कोमल अङ्ग जगह-जगह टेढ़े पड़ गये। जब वह लड़का पैदा हुआ तो आठ जगहसे टेढ़ा ही पैदा हुआ। आठ जगहसे टेढ़ा होनेके कारण उसका नाम अष्टावक्र रखा गया। अष्टावक्र जन्मके पहलेसे ही वेदोंके अनुभवी थे, अतः बड़े भारी प्रकाण्ड विद्वान् हुए।

अष्टावक्रके मामाका नाम था उद्दालक। दोनों समान अवस्थावाले थे। एक बार वे दोनों आपसमें गेंद खेल रहे थे। खेलते समय अष्टावक्रने जब गेंद फेंकी तो जहाँ वह फेंकना चाहता था वहीं गेंद लगी तो उसने प्रसन्नतासे उच्च स्वरमें कहा कि मेरी विजय हो गयी। इसपर उसके मामाने कहा कि अरे, तू यहाँ विजय मना रहा है और तेरा बाप कैदमें पड़ा है। बालक आपसमें ताना मार ही देते हैं। इस बातको

सुनकर अष्टावक्रने सोचा कि मेरा बाप कैदमें पड़ा है तो मेरा बाप और कोई है क्या? वह अपने नानाको ही अपना बाप समझता था। उसका मामा उसके नानाको पिताजी कहता तो वह भी पिताजी कहता था। उसकी माँ भी पिताजी कहती तो वह समझता कि ये सबके पिताजी हैं। जब अष्टावक्रने यह नयी बात सुनी तो वह अपनी माँके पास गया और पूछा कि माँ, मेरे पिताजी कहाँ हैं और कौन हैं? उसकी माँने उसके नानाजीकी तरफ इशारा करके कहा कि ये तेरे पिताजी हैं। इसपर बालकने कहा कि नहीं ये तो तेरे पिताजी हैं, उद्दालकके पिताजी हैं। बताओ, मेरे पिताजी कहाँ हैं? माँ, बताओ न मेरे पिताजी कहाँ हैं? लड़केका हठ सुनकर वह रोने लगी और बोली कि बेटा, क्या बताऊँ? उसने कहा कि नहीं माँ, बताना ही होगा। तब विवश होकर उसकी माँने कहा कि बेटा, यहाँ जनक नामका एक राजा है। उसके पास यदि कोई जाता है तो वह उससे कुछ प्रश्न करता है। उसके प्रश्नका जो सही उत्तर देता है उसे पुरस्कार देता है और जो सही उत्तर नहीं दे पाता उसे कैद कर लेता है। तेरे पिता भी वहीं गये थे और वे उत्तर नहीं दे सके तो राजाने उन्हें कैद कर लिया। अष्टावक्रने कहा—कोई बात नहीं। माँ डरती थी कि बापका बदला लेनेके लिये यह भी वहाँ जाकर कहीं फँस न जाय! उसे वह समझा-बुझाकर रोकना चाहती थी, किंतु वह रुका नहीं। वह अपने मामा उद्दालकके साथ राजा जनककी राजधानीमें गया। दोनों बालक राजाकी ड्योढ़ीपर खड़े होकर ड्योढ़ीवानोंसे बोले कि हम राजाकी सभामें जाना चाहते हैं। द्वारपालोंने कहा कि वहाँ बालक नहीं जा सकते। इसपर बालकोंने पूछा कि जो अवस्थामें बालक हैं वे नहीं जा सकते या जो ज्ञानमें बालक हैं वे नहीं जा सकते? यदि अवस्थामें जो बालक हैं वे नहीं जा सकते तब तो वहाँ हमारा अधिकार नहीं है; क्योंकि हम बालक

अवस्थामें हैं और यदि ज्ञानमें जो बालक हैं वे नहीं जा सकते तो हम लोगोंका अधिकार है। आप हमसे शास्त्रार्थ कीजिये। यदि हमें ज्ञानमें अयोग्य पायें तो रोक दीजिये। तब द्वारपालोंमें जो बुद्धिमान् था, उसने सोचा कि ये बालक जाने लायक हैं, अतः उन्हें जाने दिया और वे दोनों सभामें पहुँच गये। राजा समझदार थे, उन्होंने बालकोंको सभामें उपस्थित देखकर सोचा कि यदि द्वारपालने इन्हें मौका दिया है तो कुछ सोच-समझकर ही दिया है। कहोड-पुत्र अष्टावक्र वहाँ खड़ा हो गया। उन्हें आठ जगहसे टेढ़ा देखकर राजा हँसे और बाकी सब लोग भी हँसे तो अष्टावक्र भी हँसने लगे। इसपर राजाने बालकसे पूछा कि हम लोग तो ठीक हँस रहे हैं, क्योंकि तुम्हारा शरीर एकदम अनोखा है। ऐसा किसीने कभी देखा नहीं। इसलिये हम लोगोंके हँसनेका हेतु तो ठीक है, परंतु हे ब्राह्मण! तुम्हारे हँसनेका क्या हेतु है? अष्टावक्रने कहा कि मेरे हँसनेका हेतु भी ठीक है। मैंने सुना था कि राजा जनकके यहाँ विद्वान् इकट्ठे होते हैं, वहाँ विद्वानोंकी सभा है। मैं तो यहाँ विद्वानोंकी सभा समझकर आया था, किंतु यहाँ तो मोचियोंकी सभा है; क्योंकि मोची हड्डी और चमड़ेकी परीक्षा करते हैं। यहाँ आकर देखा कि कोई विद्वान् तो है ही नहीं, अतः यह मूर्खोंकी सभा है। सब मोची-ही-मोची इकट्ठे हो गये हैं और यह भी सोचकर मैं हँसा कि 'मैं कहाँ आ गया'। राजाने पूछा कि क्या ये सब मोची हैं? उसने कहा—हाँ, आचरणसे तो मोची ही हैं, क्योंकि मोची ही हड्डी और चमड़ेकी परीक्षा करते हैं। राजाने फिर पूछा कि आप यहाँ किसलिये आये? उन्होंने कहा कि मैंने सुना है कि 'राजा जनकके पास कोई भी विद्वान् ब्राह्मण आता है तो उससे कहा जाता है कि 'हम घोड़ेपर सवार हो रहे हों और एक पाँव घोड़ेके पाँवड़ेमें रख दें और दूसरे पैरको रखें इतनी देरमें हमको ज्ञान दे सकते हो क्या'? ज्ञान न दे सकनेके कारण आप उसे

कैद कर लेते हैं। राजाने कहा—हाँ यही बात है। अष्टावक्र बोले—'मैं आपको ज्ञान देने आया हूँ।' राजाने कहा कि इतनी देरमें आप ज्ञान दे सकते हैं? अष्टावक्र बोले कि इतनी देरमें मैं तीन आदमियोंको ज्ञान दे सकता हूँ। जिसके पास जो चीज है—जैसे यह घड़ी है, इसे दूसरोंको देनेमें कितना समय लगेगा। उन्होंने घड़ीकी बात नहीं कही यह तो मैंने आपको समझानेके लिये कही है। राजाने घोड़ा मँगवाया और घोड़ेपर सवार होनेके लिये एक पैर पाँवड़ेपर रखा और दूसरा पैर ज्यों ही रखनेके लिये तैयार हुआ, त्यों ही अष्टावक्रने उपदेश देना आरम्भ कर दिया—'राजन्! मनको मुट्ठीमें पकड़ो।' राजाने कहा—'मनको मुट्ठीमें कैसे पकड़ें?' अष्टावक्रने कहा कि 'मन तुम्हारी मुट्ठीमें रहे, इधर-उधर बाहर न जाय।' राजाने कहा कि 'मनको मुट्ठीमें कैसे पकड़ा जा सकता है?' अष्टावक्रने कहा कि 'जिसका मन मुट्ठीमें नहीं है, उसे यह सवाल ही नहीं करना चाहिये कि इतने समयमें ज्ञान दो। इतने समयमें ज्ञान उसीको दिया जा सकता है, जिसका मन मुट्ठीमें हो। ज्ञान प्राप्त करनेके पात्र तो तुम हो नहीं और दोष देते हो उपदेशकको। पहले तुम स्वयं तैयार होओ—जैसा हम कहें या उपदेश दें, वैसा तुम करो। यदि तुम नहीं कर सकते तो दोष हमारा है या तुम्हारा?' राजाने कहा कि 'मैं इस प्रकार मनको मुट्ठीमें नहीं पकड़ सकता'। इसपर अष्टावक्रने कहा कि 'अगर तुम नहीं पकड़ सकते हो तो तुम्हें ज्ञान देना मेरे वशकी बात नहीं और तुमने जितने ब्राह्मणोंको बिना अपराध कैद कर रखा है उन्हें छोड़ दो'। अष्टावक्रकी इस बातपर संतुष्ट होकर राजाने सबको छोड़ दिया। उनमें अष्टावक्रका पिता कहोड भी था। इस प्रकार अष्टावक्रने सबको छुड़ा दिया। कहनेका अभिप्राय यह है कि यदि मनुष्य पात्र बन जाय तो महात्मा पुरुषोंके उपदेशसे बहुत थोड़े समयमें बहुतोंको ज्ञान हो सकता है। इस समय उच्चकोटिके महात्मा पुरुष भी

कम हैं; जिस समय भगवान्‌ने गीताका उपदेश किया था, उस समय भी कम थे। क्योंकि भगवान् कहते हैं—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

(गीता ७। ३)

हजारों आदमियोंमेंसे कोई एक आदमी मेरी प्राप्ति-रूप सिद्धिके लिये प्रयत्न करता है और उन प्रयत्न करनेवाले सिद्धोंमें कोई एक ही पुरुष मुझ परमात्माको तत्त्वसे जानता है। इससे यह सिद्ध होता है कि उस जमानेमें भी लाखों-करोड़ोंमें कोई एक महापुरुष हुआ करता था। इसीलिये मनुजीने कहा है कि एक ओर दस हजार आदमी इकट्ठे होकर यदि कहें कि यह धर्म है और दूसरी ओर चारों वेदोंके तत्त्वको जाननेवाला एक महापुरुष जिसे धर्म बतावे वहाँ महापुरुषकी बातका ही महत्त्व है। उन दस हजार आदमियोंका बताया हुआ धर्म नहीं माना जा सकता, उस एककी ही बात मानी जा सकती है। आजकल जो वोटकी प्रथा है, उसमें कोई चाहे उच्चकोटिका विद्वान् महात्मा हो या कोई मूर्ख हो उन दोनोंका समान मूल्य है। आजकल विद्वान् महात्माकी कीमत नहीं है। उस समय कीमत थी कि दस हजार आदमी एक ओर और एक विद्वान् तत्त्ववेत्ता एक ओर तो उस एक व्यक्तिकी बातका ही आदर होता था, न कि दस हजार व्यक्तियोंकी बातका। संसारमें महापुरुष बहुत ही कम हैं और हैं भी तो दुर्लभ हैं। प्रथम तो हैं ही बहुत कम और हैं तो उनका मिलना बड़ा दुर्लभ है और मिल जाते हैं तो उनको पहचानना कठिन है, उनको हम पहचान नहीं सकते। हममें पहचाननेकी सामर्थ्य नहीं है। यदि वे दया करके अपना परिचय दे दें तो हम उनसे बहुत लाभ उठा सकते हैं। जैसे अष्टावक्रजीने कहा कि इतने समयमें [जो कि एक मिनटका भी समय नहीं—] मैं

तीन आदमियोंको ज्ञान दे सकता हूँ, जीवन्मुक्त बना सकता हूँ। उनका दिया हुआ ज्ञान निष्फल नहीं जा सकता। अतः परमात्माकी प्राप्तिके लिये तो इतना समय ही काफी है। जैसे जब बिजली फिट हो जाती है तब स्विच दबानेके साथ ही रोशनी हो जाती है, बिलकुल विलम्ब नहीं होता, इसी प्रकार जब मनुष्य पात्र बन जाता है तब क्षणमात्रमें परमात्माकी प्राप्तिका उपदेश पाकर उसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। अतः हम लोगोंको तैयार होना चाहिये। शास्त्रोंमें भी यह बात बतायी गयी है कि पात्रता प्राप्त होनेपर परमात्माकी प्राप्तिमें विलम्ब नहीं होता।

छान्दोग्य उपनिषद्में कथा आती है कि जबालाका पुत्र सत्यकाम अपने गुरुके पास उपदेश लेनेके लिये गया। गुरुने पूछा कि तुम्हारा गोत्र क्या है? जाबालाने कहा कि 'मैंने इस विषयमें अपनी माँसे पूछा था तो उसने कहा कि मैं तुम्हारे पिताकी सेवा करती थी। उस समय मुझे मालूम नहीं था कि तुम्हारे पिताका गोत्र क्या है, और तुम पैदा हुए।' इसपर गुरुजीने कहा ठीक है, तुम ब्राह्मणके पुत्र हो, क्योंकि तुम सत्यवादी हो, ब्राह्मण कभी मिथ्या नहीं बोलते। तुम्हारे पिताका गोत्र नहीं मालूम तो कोई बात नहीं, तुम्हारी माँके नाम 'जबाला' से तुम्हारा गोत्र चलेगा। फिर उन्होंने उसे शिक्षा दी। यज्ञोपवीत दिया और गायत्री-मन्त्रकी दीक्षा दी। शिक्षा देकर उसे आज्ञा दी कि इन चार सौ गायोंका तुम अनुगमन करो। जाते समय सत्यकामने कहा कि जब ये एक हजार हो जायँगी तब मैं लौटूँगा। इसपर वे मौन हो गये। मौनमें उनकी सम्मति और संकेत समझकर वह गायोंको वनमें ले गया। जब गौओंकी संख्या एक हजार हो गयी, तब उनमें एक वृषभ (साँड़)-ने कहा कि अब हमारी संख्या एक हजार हो गयी, अतः हमको गुरुजीके पास ले चलो। उस समय सत्यकामको वृषभने ब्रह्मका उपदेश दिया। इसके बाद क्रमशः अग्निदेवता तथा हंस और मद्गु नामके एक जलचर पक्षीने भी

उपदेश दिया। इस प्रकार वनमें ही उसे इन चारोंने उपदेश दिया। सत्यकामको पूर्ण ज्ञान हो गया और उसे परमात्माकी प्राप्ति हो गयी। ब्रह्मज्ञान होनेपर वह १,००० गायोंके साथ गुरुजीके पास पहुँचा। गुरुजीने उसका मुख-मण्डल देखकर कहा—'वत्स! तेरे मुखमण्डलकी प्रसन्नता और शान्ति देखकर मुझे ऐसा अनुभव हो रहा है कि तुम्हें ब्रह्मज्ञान हो गया।' सत्यकामने कहा—'प्रभु! आपकी कृपासे हो गया। फिर भी मैं आपके मुखसे सुनना चाहता हूँ, आप स्वयं मुझे उपदिष्ट करें। तदनन्तर गुरुने भी उपदेश दिया। सत्यकाम जब पात्र हो गया तो गुरुने भी थोड़े कालमें ही उपदिष्ट कर दिया। ज्ञान तो उसे पहले ही हो गया था। नाम मात्रके लिये गुरुसे भी सुन लिया।

उसमें पात्रता क्या थी? गुरुकी आज्ञाका पालन करना। गुरुने कहा था कि 'तुम इन चार सौ गायोंका अनुगमन करो।' उसने गुरुके कहनेपर यह प्रश्न नहीं किया कि 'इससे ज्ञान कैसे होगा?'—यह भी नहीं सोचा कि मैं तो ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये गुरुके पास आया हूँ और ये गुरुजी ब्रह्मज्ञानकी तो बात करते नहीं और कहते हैं कि 'तुम गायोंको जंगलमें ले जाकर चराओ।' भला आजके युगमें कौन उससे मुक्ति समझेगा और इस बातको सच मानेगा। बल्कि कहेगा कि मैं आपके यहाँ ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये आया हूँ या गायोंको चरानेके लिये। इसके अलावा आज कोई इस प्रकारसे शिक्षा लेनेके लिये आये तो उसे चार सौ गायें तो दूर रहीं, उससे यह कह दे कि हमारे घरमें गाय है और तुम प्रातःकाल तथा सायंकाल इसका दूध स्वयं दुह लाना। गायको थोड़ा घास भी खिला दोगे तो अच्छा होगा और दिनमें पढ़ा करना। वह भी उसे भार मालूम देगा कि देखो गुरुजी बड़े स्वार्थी हैं। ये तो गायकी सेवा करवाना चाहते हैं और इसके बदलेमें मुझे ज्ञान देना चाहते हैं। अच्छा खैर, कोई दूसरा गुरु मिले ऐसी चेष्टा करें, इनसे क्या होना है। ऐसे

स्वार्थीसे अपने किसी कामकी सिद्धि नहीं हो सकती। क्या कभी ऐसे शिष्यको ज्ञानकी प्राप्ति हो सकती है? स्वयं भगवान् कहते हैं—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(गीता ४। ३४)

गुरुसे ज्ञान इस प्रकार प्राप्त कर। 'प्रणिपात' कर नमस्कार करके नहीं बल्कि साष्टाङ्ग प्रणाम करके यानी गुरुके चरणोंमें लम्बा लेटकर प्रणाम कर। आजकल किसीसे कहा जाता है कि साष्टाङ्ग प्रणाम करना चाहिये तो कहते हैं कि हमें शर्म आती है। शुद्ध भावसे प्रश्न करनेका नाम 'परिप्रश्न' है। जिज्ञासु होकर शुद्ध भावसे प्रश्न करना चाहिये। 'सेवा' का अर्थ है गुरुके मनके और संकेतके अनुसार चलना, उनके आदेशके अनुसार चलना, हर समय उपस्थित रहना, उनकी आज्ञाकी प्रतीक्षा करते रहना। इस प्रकार गुरुके मनके अनुसार, आदेशके अनुसार सेवा करना सेवा है। ऐसा करनेपर वे तत्त्वदर्शी महात्मा ज्ञानी पुरुष तुझे ज्ञानका उपदेश करेंगे। प्रश्न हो सकता है कि यदि तत्त्वदर्शी ज्ञानी महात्मा पुरुष हैं तो उन्हें जिज्ञासुके प्रश्नका उत्तर देनेमें सेवासे, नमस्कारसे क्या प्रयोजन? प्रश्न करनेवाला चाहे जैसे भी प्रश्न करे। यह सेवा और नमस्कार क्यों? उत्तर यह है कि सेवा और नमस्कारसे वह पात्र है या अपात्र यह समझा जाता है। श्रद्धाका निर्णय होता है। क्या श्रद्धालुको ही ज्ञान देना चाहिये अन्यथा नहीं? प्रश्नकर्तामें यदि श्रद्धा नहीं हो तो उपदेश नहीं देना चाहिये। मूककी तरह चुप हो जाना चाहिये। वास्तवमें तत्त्वदर्शी महात्मा-ज्ञानी पुरुषको अपने निजी प्रयोजनकी सिद्धिके लिये सेवा नहीं करवानी है, प्रणाम नहीं कराना है, बल्कि उनका तो यह प्रयोजन है कि श्रोताका किस प्रकारसे हित हो। हित तभी हो सकता है, जब वह पात्र होगा और पात्र वही समझा

जाता है जिसमें श्रद्धा होती है। ये तो साधारण श्रद्धाके नियम हैं। उच्चकोटिकी परम श्रद्धाकी बात तो गुप्त है, रहस्यकी बात है, वह पुस्तकोंमें कैसे मिल सकती है। जिनकी परम श्रद्धा होती है, उनकी परिस्थिति तो ऐसी होती है कि वे गुरुका दर्शन करके मुग्ध होते रहते हैं, उनकी आज्ञाकी प्रतीक्षा करते रहते हैं और उनकी आज्ञा मिलनेपर इतनी प्रसन्नता होती है कि शरीरमें रोमांच होने लगता है। उनकी आज्ञाका पालन करनेमें प्रसन्नता होती है। कभी-कभी तो वे इतने मुग्ध हो जाते हैं कि आज्ञा-पालन करनेमें विलम्ब असह्य हो जाता है। जिस ओरकी हवा चलती है उस ओर वह नहीं बैठता। उस ओर अपने गुरुको बैठाकर स्वयं दूसरी ओर बैठता है। जैसे मानो हवा पूर्वसे आ रही है तो वह पूर्वमें गुरुजीको बैठाता है और स्वयं पश्चिमकी ओर बैठता है; क्योंकि गुरुको स्पर्श करके जो हवा उसे स्पर्श करती है उससे ही ज्ञान हो जाय। हमारी स्पर्श की हुई हवा अपवित्र हो जाती है, क्योंकि हम अपवित्र हैं। हमारी स्पर्श की हुई अपवित्र हवा अगर गुरुको स्पर्श करे, तो वह एक प्रकारसे अपराध है। कोई भी चीज जिसे गुरु स्पर्श करें उसे हम स्पर्श करें वह तो ठीक है, पर हमारी स्पर्श की हुई वस्तुको गुरुजी स्पर्श करें वह तो हमारी उच्छिष्ट हो गयी। शिष्य यदि नदीमें स्नान करता है तो जिस ओरसे प्रवाह आता है उस ओर तो गुरुजीको रखता है और जिस ओर प्रवाह बहता है उस ओर स्वयं स्नान करता है। भाव यह रहता है कि जो जल गुरुका स्पर्श करके मेरा स्पर्श करेगा उससे मेरा कल्याण होगा। जल पवित्र तो है पर मुझे स्पर्श करनेपर अपवित्र होगा अतः उस जलको हम गुरुसे कैसे छूने दें। चलनेके समय जिस ओर उनकी छाया पड़े उस ओर हम कैसे चलेंगे। क्योंकि उनकी छायापर हमारे पैर पड़ेंगे। यदि कहो कि स्वामीपर तो नहीं पड़ते? तो उनकी छायापर तो पड़ते हैं न! हमें तो छायाको भी

बचाना चाहिये। जिस जगह गुरुके पैर टिकेंगे वहाँ हम पैर कैसे रखें, क्योंकि वह तो हमारे मस्तक रखनेकी जगह है। हमें आगे चलना चाहिये। हमारे पैरपर गुरुके पैर पड़ें तो कोई आपत्ति नहीं। यदि हम गुरुके पीछे चलें तो उनके पैरोंको बचाकर चलना चाहिये, इसलिये कि वह चरण-धूलि हमारे मस्तकपर धारण करनेकी वस्तु है।

गुरुके पहननेकी पादुकाओंको वह नहीं पहनता, क्योंकि वह उनको मस्तकपर रखनेकी वस्तु समझता है, पाँवमें रखनेकी नहीं। यदि हमारे पाँवकी पादुकाएँ हैं और उनको गुरुने पहन लिया तो वे हमारे पहननेकी चीज नहीं रहीं। प्रथम तो हमें उन्हें पहनने देना ही नहीं चाहिये, क्योंकि वे हमारे पैरोंकी जूती हैं, हम उन्हें कैसे दें। अपना पहना हुआ पुराना वस्त्र या पुराना जूता उच्छिष्ट है और हम वह गुरुजीको दें तो यह अपराध है। इस सम्बन्धमें सावधानी रखनी चाहिये। गुरुके काममें ली हुई चीजको वह बड़े हर्षसे लेता है। वह समझता है कि उन सब चीजोंमें गुरुके परमाणु प्रवेश कर गये हैं। उनको प्रसाद-रूपमें धारण करनेसे ही मुझे ज्ञान हो जायगा यह उसका भाव है। इसी प्रकारसे जो ब्रह्मचर्य-आश्रममें रहते वे भिक्षा लाकर गुरुको सौंप देते और गुरु अपने हाथसे छूकर उसको उसमेंसे जितना देते उसे वह प्रसाद समझकर पाता। गुरु लोग बड़े उच्चकोटिके होते थे। वे भोजन करके अपना उच्छिष्ट नहीं देते थे। किसीको उच्छिष्ट खिलाना पाप समझते थे। शिष्यके लिये तो गुरुके उपयोगसे अवशिष्ट वस्तु मुक्ति देनेवाला प्रसाद है तथापि गुरु समझते थे कि हमारे अवशिष्टमें वह शक्ति नहीं है जो उसकी मुक्ति हो जाय। हमारे चरणोंकी धूलि या जलमें वह शक्ति नहीं है कि उसके धारण या पान करनेसे उसकी मुक्ति हो जाय। इसलिये वे इन बातोंसे बचते थे। यदि किसी शिष्यको गुरुकी सम्मतिसे [चोरी करके नहीं] ये चीजें मिल गयीं तो उसका उद्धार हो जाता था, कल्याण

हो जाता था। उच्चकोटिके महापुरुष सदा-सर्वदा सावधान रहते थे, इन कानूनोंसे बचकर रहते थे और शिष्य उनकी सम्मतिसे इन बातोंको स्वीकार करते थे।

वे समझते थे कि यदि गुरुके गुणोंको हम चोरी करके लेंगे तो उसमें हमारी सफलता नहीं है। कर्णने चोरीसे परशुरामजीसे विद्या पढ़ी। जब परशुरामजीको मालूम हुआ कि इसने कपटसे मुझसे विद्या पढ़ी है तो उन्होंने उसे शाप दे दिया कि तुमने मुझसे जो विद्या पढ़ी है वह निष्फल होगी, क्योंकि तुमने चोरीसे विद्या पढ़ी। इसलिये चोरीसे जो चीज पढ़ी जाती है वह निष्फल होती है।

महात्मा पुरुषोंमें जिनकी श्रद्धा होती है उनके लिये भगवान्‌ने बतलाया है कि श्रद्धावान् पुरुष ज्ञानको प्राप्त हो जाता है—'**श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्**' (गीता ४। ३९)। श्रद्धावान् कैसा होना चाहिये? जो साधनमें तत्पर हो और जिसकी इन्द्रियाँ वशमें हों। ऐसा पुरुष ज्ञानको पाकर परम शान्तिको शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है। ज्ञानकी प्राप्तिके बाद तुरंत ही परम शान्ति मिल जाती है, जिसे हम परमात्माकी प्राप्तिरूप शान्ति कहते हैं। मन और इन्द्रियोंका जितना संयम होता है उतना ही उसका साधन तेज समझा जाता है। अभिप्राय यह है कि जितनी उच्चकोटिकी श्रद्धा होगी उतना ही साधन तेज होगा और जितना साधन तेज होगा उतनी ही जल्दी मन और इन्द्रियाँ वशमें हो जायँगी। श्रद्धा पूर्ण होनेपर ये सब बातें उसमें प्रकाशित होंगी और उसे ज्ञान हो जायगा। श्रद्धाकी कमीके कारण ही ज्ञानकी प्राप्तिमें विलम्ब होता है। बहुत-सी ऐसी बातें हैं जो श्रद्धा होनेसे स्वाभाविक ही आ जाती हैं। पुस्तकोंमें पढ़कर यदि यह बात समझमें आवे तो उसका इतना महत्त्व नहीं है जितना महत्त्व स्वाभाविक रूपसे आनेपर होता है। जब परम श्रद्धा होती है तब श्रद्धालुको वक्ताके हृदयके भावका ज्ञान स्वतः हो

जाता है और उसके मनके अनुसार चलता है। जैसे पतिव्रता स्त्री पतिके मनके भावको स्वयं जान जाती है और जबतक वह मनके भावको नहीं जानती तबतक संकेतके अनुसार चलती है। इसी प्रकार श्रद्धालु महात्माओंके संकेतके अनुसार चलते हैं। प्राय: लोग महात्माओंके संकेतको नहीं समझते, वे तो उनके वचनोंके अनुसार चलते हैं। वचनकी अवहेलना करना श्रद्धालुके लिये तो मरणके समान है। जो परम श्रद्धालु है उससे वचनकी अवहेलना हो ही नहीं सकती। जैसे मदारी कठपुतलीको नचाता है उसी तरह श्रद्धालु महात्माके संकेतके अनुसार नाचता है। जैसे मनुष्यकी छाया मनुष्यके अनुसार ही चलती है, मनुष्य जैसी चेष्टा करता है उसकी छाया भी वैसी ही चेष्टा करती है, इसी प्रकार वह उनकी छाया हो जाता है। वहाँ भूल होनेकी गुंजाइश ठीक वैसे ही नहीं रहती, जैसे छायामें कभी भूल नहीं होती। जैसे मनुष्य अपना सिर हिलाता है वैसे ही छाया हिलाती है। छाया जड़ है और मनुष्य चेतन। छायामें कोई विशेषता नहीं रहती और चेतनमें विशेषता रहती है। उसके शरीरमें बार-बार रोमांच होता है, अश्रुपात होता है, प्रसन्नता होती है। प्रसन्नता और शान्तिमें वह हर समय मन्त्रमुग्धकी तरह मुग्ध रहता है। उसके रोमांच होने, अश्रुपात होने, प्रसन्नता होने और मन्त्रमुग्धकी तरह होनेमें विलम्ब नहीं होता। जब साधारण श्रद्धालुको विशेष विलम्ब नहीं होता, तब परम श्रद्धालुमें गुरुका भाव समाविष्ट हो ही जाता है। गौ जब बछड़ेको चाटने लग जाती है तो बछड़ेके रोमांच हो जाता है और उसी क्षण गायके थनोंमें दूध आ जाता है। बछड़ा उसे चूँघकर एकदम तृप्त हो जाता है। बछड़ेके चूँघनेमें दस-पंद्रह मिनट लग जाता है, क्योंकि वह दूध स्थूल चीज है और माँके थनोंसे भी धीरे-धीरे निकलकर बछड़ेके मुखके द्वारा उसके पेटमें जाता है। किंतु महात्माका प्रभाव तो क्षणमात्रमें पड़ जाता

है। उसमें इतना समय नहीं लगता। जैसे धूपमें बैठनेपर सूर्यकी किरणोंका प्रभाव तुरंत ही पड़ जाता है। किंतु उसमें भी दो-चार मिनट लगते हैं, क्योंकि वह गर्म होता है। पर महात्माका प्रभाव तो सूर्यसे भी बढ़कर है। महात्माका प्रभाव बिजलीकी तरह दौड़ता है; जैसे बिजलीको छूनेके साथ ही उसका प्रभाव हो जाता है। उसमें सूर्यकी तरह विलम्ब नहीं होता। वास्तवमें महात्माका प्रभाव तो बिजलीसे भी बढ़कर है। बिजलीके प्रभावसे तो दुःख और अशान्ति होती है और उससे जीवन तक नष्ट हो सकता है, पर यहाँ महात्माके प्रभावका जो बिजलीकी तरह दौड़ना है, उससे अज्ञान नष्ट हो जाता है तथा दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन, पापोंके समूहों, दुःखोंके समूहोंका क्षणमात्रमें नाश हो जाता है। जैसे बिजलीसे शरीर नष्ट हो जाता है, वैसे ही यहाँ इन सब चीजोंका विनाश हो जाता है। जैसे बिजलीको छूनेसे बिजलीके प्रभावकी वृद्धि होती है, उसी प्रकार भगवान्‌को छूनेसे, महात्माको छूनेसे, महात्माका प्रभाव पड़नेसे वह महात्मा बन जाता है। परमात्माके प्रभावसे वह परमात्मा बन जाता है। जैसे तारमें बिजली आनेसे तार बिजली ही बन जाता है, इसी प्रकार परम श्रद्धा होनेपर वह भी महापुरुष बन जाता है, उसमें महापुरुषत्व उतर आता है। जबालाके पुत्रका उदाहरण श्रद्धाका है, परम श्रद्धाका नहीं।

धौम्यने अपने शिष्य आरुणिसे कहा कि खेतमें वर्षाका पानी ऊपरकी क्यारीसे नीचेकी क्यारीमें आ रहा है, उसको रोक दो, जिससे ऊपरका जल ऊपर ही रहे। आरुणि खेतमें गया और उसने पानीके बहावको रोकनेकी बहुत कोशिश की। जिस रास्तेसे पानी नीचे जा रहा था, उस रास्तेपर वह बार-बार मिट्टी रखता और वह मिट्टी बह जाती। उस स्थानपर जब पानी नहीं रुका तो जहाँसे पानी आता था वहाँ वह खुद लेट गया। अब नीचे पानी जाना बंद हो गया। जब रात हो गयी,

तब गुरुने अन्य शिष्योंसे कहा कि आज आरुणि नहीं आया, वह कहाँ गया? शिष्योंने कहा कि आपने ही तो आज्ञा दी थी कि तुम खेतमें पानी रोको। गुरुने कहा कि पानी रोकनेमें इतना समय क्यों लगा, उसे दिनमें भेजा था अब तो रात हो गयी, चलो उसकी खबर लें। गुरुको अन्य शिष्योंको भी दिखाना था कि श्रद्धाका कैसा स्वरूप है। अतः और शिष्योंको भी साथ लेकर गये। रातका समय था, अन्धकार छाया था। आरुणि जिस खेतकी क्यारीमें जल रोके हुए था, उसके नजदीक जाकर गुरुने आवाज दी—वत्स आरुणि! आवाज सुनते ही आरुणिने कहा—क्या आज्ञा है महाराज? गुरुजीने पूछा—क्या कर रहे हो? आरुणिने कहा कि गुरुजी, आपने जल रोकनेकी आज्ञा दी थी, जलको रोके हुए हूँ। मिट्टी डालनेपर नहीं रुका तो मैं स्वयं ही लेट गया। अभीतक उसे रोक रखा था। अब क्या आज्ञा है? उस जलको रोके रहूँ या और कोई दूसरी आज्ञा है। गुरुने कहा कि अब हमारी आज्ञा यह है कि अब तुम अपने घरपर जाओ, तुम स्नातक हो गये। तुम जिस कामके लिये आये थे, तुम्हारा वह काम हो गया। बिना पढ़े ही तुम्हें सारे शास्त्रों और वेदोंका ज्ञान हो गया, अतः तुम अब अपने घर जाओ। न कोई पानी रोकना था और न कोई और प्रयोजन था उसका काम सिद्ध करना था। तब आरुणि गुरुके चरणोंमें प्रणाम करके अपने घर चला गया। जिस ज्ञानकी प्राप्तिके लिये आया था, उसे वह ज्ञान अपने-आप ही हो गया। यह भी परम श्रद्धा नहीं है, क्योंकि इतना विलम्ब हुआ।

शास्त्रोंमें श्रद्धाकी बहुत-सी बातें उदाहरणरूपमें मिलती हैं, किंतु परम श्रद्धाकी बात शास्त्रोंमें नहीं मिलती। एक श्रोताने पूछा कि जब शास्त्रोंमें परम श्रद्धाकी बात नहीं मिलती तो फिर आपने उसका स्वरूप कैसे समझा? इस विषयमें मेरा यह कहना है कि जिन पुरुषोंकी

भगवान्‌में जितनी परम श्रद्धा थी और मिलती है, भगवान्‌की कृपासे उनसे भाव निकाला गया और हम क्या कहें। ईश्वरकी कृपासे क्या नहीं हो सकता है। मुझे यह विश्वास है कि ईश्वरकी कृपासे ऐसी बातें समझमें आ जाती हैं जो कि पुस्तकोंमें नहीं हैं। पुस्तकोंमें कितनी बातें लिखी जायँगी; क्योंकि सारी बातें पुस्तकोंमें नहीं आ सकतीं। बातें अनन्त हैं और भगवान्‌का प्रभाव भी अपरिमित है।

गीताके सात सौ श्लोकोंका जो भाव है, रहस्य है, वह इतना भरा हुआ है कि आप इसका अभ्यास करते रहें तो आपको नयी-नयी बातें मिलती रहेंगी। ये तो ७०० श्लोक ही हैं और सम्भव है भगवान्‌का यह व्याख्यान दो घंटेका रहा होगा, क्योंकि युद्धके समयमें कहा गया था। भगवान् नित्य हैं और उनके अवतारका जीवन तो बहुत लम्बा था तथा उनके जीवनकी बातें उनका व्याख्यान ही था। यदि सभी बातें समझें तो सभी कल्याण करनेवाली हैं। उनको तो भगवान्‌का परम भक्त ही समझ सकता है। गोपियोंके लिये तो भगवान्‌की प्रत्येक क्रिया मुक्तिको देनेवाली थी। भगवान् श्रीकृष्ण जो भी क्रिया कर रहे हैं, गोपियाँ उनको देखकर मुग्ध हो रही हैं, उनके अश्रुपात हो रहा है, रोमांच हो रहा है, भगवान् जो भी उपालम्भ दे रहे हैं और वे जो भी क्रिया कर रहे हैं उसमें किसीमें भी यह बात नहीं है कि यह नीचे दर्जेकी है और यह ऊँचे दर्जेकी है। उनके किसी भी उपदेश या आदेशमें यह बात नहीं कि यह घटिया है या यह बढ़िया; क्योंकि वह भगवान्‌का है। उनकी भगवद्‌बुद्धि है और भगवद्‌बुद्धि होनेके बाद उनके शरीरकी क्रिया-वचन और अन्य सब क्रियाएँ उन्हें अद्भुत आनन्द देनेवाली हो जाती हैं।

सगुण-साकार भगवान्‌का दर्शन एवं प्रभाव

भगवान् धर्मकी रक्षाके लिये सगुण-साकार-रूप धारण करते हैं, उस समय यदि मनुष्यको भगवान्‌का भगवान् समझकर दर्शन हो जाय तो उसके प्रभावसे बेड़ा पार हो जाय। भगवान्‌के दर्शनके प्रभावसे हमारेमें जितने दुर्गुण और दुराचार हैं वे सब मिट जाते हैं तथा सद्गुण और सदाचार अपने-आप ही आ जाते हैं, उसके लिये और कोई उपाय नहीं करना पड़ता। किंतु यह तभी होता है जब भगवान्‌को भगवान् समझा जाय, अन्यथा नहीं। क्योंकि भगवान् श्रीकृष्णने जब अवतार लिया था तब हजारों लोगोंको उनके दर्शन होते थे, किंतु सब उनको भगवान्‌के रूपमें नहीं समझते थे। दुर्योधन आदिको भी दर्शन होते थे पर वे उन्हें भगवान् नहीं समझते थे जिससे उनकी मुक्ति नहीं हुई। श्रद्धा-विश्वासकी कमी थी। महाभारतके सभापर्वमें वर्णन आया है कि भगवान्‌ने दुर्योधनकी सभामें अपना विश्वरूप दिखलाया, पर भगवान्‌के विदा होनेके बाद दुर्योधनने उनकी निन्दा की और कहा यह तो तमाशा दिखाना है—बाजीगरी है, इन्द्रजालका तमाशा है, ऐसा तो हम भी जानते हैं। भगवान् तो अपना विश्वरूप दिखायें और वह उसे इन्द्रजालका तमाशा बताकर उसकी खिल्ली उड़ावे तो उसकी मुक्ति भला कैसे होगी। इसीलिये भगवान् कहते हैं कि 'हे अर्जुन! तेरा और मेरा संवाद गुप्त बात है। बड़े रहस्यकी बात है, तू मेरा अतिशय प्यारा है इसलिये मैंने तेरे हितके लिये यह बात कही है—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥

(गीता १८। ६४)

भगवान्‌ने प्रतिज्ञा करके यह बात कही कि यह मेरा परम वचन

है। स्वयं भगवान् अपने वचनकी प्रशंसा कर रहे हैं तथा इसे सर्वगुह्यतम बता रहे हैं। इसलिये कि एक तो गोपनीय बात होती है, उससे ऊँची गुह्यतर तथा उससे भी और ऊँची गुह्यतम होती है और उससे भी जो श्रेष्ठ होती है, वह होती है सर्वगुह्यतम। इस मेरी बातको तू विशेषतासे सुन। ९ वें अध्यायके अन्तमें जो बात कही है, वही बात भगवान् अर्जुनसे फिर कह रहे हैं कि तू मेरा अतिशय प्यारा है। यह कहकर भगवान् कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥*

(गीता १८। ६५-६६)

इन श्लोकोंमें चार-चार बातें आयी हैं—(१) मेरेमें मनको लगा दो, (२) मेरा भक्त हो जा, यानी मेरेमें ही प्रेम कर, (३) मेरी ही पूजा कर और (४) मुझे ही नमस्कार कर। फिर (१) शास्त्रविहित समस्त कर्मोंका मुझमें समर्पण कर दे, (२) मेरी शरणमें आ जा, (३) सभी पापोंसे मुक्त कर दूँगा, और (४) तू शोक मत कर।

मैं तुमसे प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि तू मेरा प्यारा है। इस प्रकार करनेसे तू सदाके लिये मेरेको ही प्राप्त हो जायगा, फिर तू मुझसे कभी अलग होगा ही नहीं। इस प्रकार प्रशंसा करके भगवान् आगेके श्लोकमें कहते हैं—

---

* 'हे अर्जुन! तू मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझको प्रणाम कर। ऐसा करनेसे तू मुझे ही प्राप्त होगा, यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है। सम्पूर्ण धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको मुझमें त्यागकर तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वरकी ही शरणमें आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।'

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥ (गीता १८।६७)

ये जो बातें मैंने तुमसे कहीं, इन्हें जो तपहीन हैं उनसे नहीं कहना, क्योंकि वे पात्र नहीं हैं, अर्थात् अपात्रको नहीं कहना और जो मेरा भक्त नहीं है, मेरेमें जिसकी प्रीति नहीं है, उससे तो भूल करके भी नहीं कहना, क्योंकि यह सर्वगुह्यतम बात है। जो सुनना नहीं चाहते उनको अपनी तरफसे नहीं कहना चाहिये तथा जो मेरे गुणोंमें दोषकी कल्पना करते हैं, उनसे भी कभी नहीं कहना।

लोग भगद्दर्शनके प्रभावके बारेमें जिज्ञासा करते हैं तो भगवान्‌के दर्शनके प्रभावको बतलानेकी मेरी सामर्थ्य नहीं है, किंतु यत्किंचित् जो भी कहा जाता है, हम स्तुति करते हैं, वह स्तुति भी एक अंशमात्र भी नहीं होती। वास्तवमें तो यह एक प्रकारसे उनकी निन्दा ही है। जैसे किसीके पास पारस हो या कोई अरबपति हो और उसको लखपति कहा जाय, लखपतियोंमें उसका नाम लिखवाया जाय कि वह लखपति है तो वह हँसता है कि यह मूर्ख है और समझता नहीं। अरे लखपति क्या, सैकड़ों लखपति तो हमारे यहाँ रोज नये बनते हैं अर्थात् लाखों रुपये तो रोज हमारे घर आते हैं। यह क्या कहता है? हमारे पास तो पारस है और उस पारससे न मालूम कितनोंको हम लखपति बनाते हैं। भगवान्‌के प्रभावसे, उनके दर्शनके प्रभावसे मनुष्योंके अवगुण, दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन, पाप, दुःख सबका विनाश हो जाता है। यह तो भगवान्‌के दर्शनके आभासका फल है, साक्षात् भगवान्‌के दर्शनका यह फल नहीं है। भगवान्‌के साक्षात् दर्शनका फल तो परम शान्ति, परम आनन्दकी प्राप्ति, परम प्रेमकी और सदाके लिये परमात्माकी प्राप्ति है। उसका असली फल तो यही है। उनके लिये यह कहनेकी आवश्यकता ही नहीं कि 'हे प्रभो! हमारेमें जो दुर्गुण, दुराचार,

दुर्व्यसन, पाप, क्लेश हैं, उनका नाश कर दो।' इस प्रकार भाटकी तरह हमें भगवान्‌से प्रार्थना करनेकी जरूरत नहीं पड़ती। एक प्रार्थनाके अन्तर्गत ही यह सब बात आ जाती है कि 'हे प्रभो! हमें आप दर्शन दें।' भगवान्‌के दर्शन होनेके बाद ये सब रह ही नहीं सकते। जैसे सूर्यभगवान्‌को हम यह कहें कि 'हे सूर्यभगवान्! आप हमें दर्शन दें तथा हमारे यहाँ जो अँधेरा है उसे दूर कर दें', यह कहनेकी आवश्यकता ही नहीं है। क्योंकि जब सूर्यका दर्शन होगा तो क्या वहाँ फिर अँधेरा रहेगा, वह तो आप ही खत्म हो जायगा, बल्कि सूर्यके उदय होनेके पहले जो आभास होता है, उससे ही खत्म हो जाता है। सूर्योदयके पाँच-दस मिनट पहले दृष्टि फैलाकर देखनेपर आपको कहीं भी अन्धकार नजर नहीं आयेगा, क्योंकि उसके उदय होनेके पहले आभाससे ही वह अन्धकार भाग जाता है; क्योंकि वहाँ अन्धकारकी दाल नहीं गलती, फिर सूर्यके सामने तो अन्धकार आ ही नहीं सकता। इसी प्रकार भगवान्‌के सम्मुख दुर्गुण-दुराचार तो आ ही नहीं सकते, इनके लिये हमें प्रार्थना करनेकी जरूरत नहीं है। भगवानसे मिलनेके लिये ही प्रार्थना करनी है। मिलनेके लिये एक ही प्रार्थना करनी है कि 'हमारा आपमें विशुद्ध प्रेम हो, अनन्य प्रेम हो।' यदि हमें विशुद्ध और अनन्य प्रेम मिल जाय तो भगवान्‌से यह कहनेकी भी आवश्यकता नहीं कि आप हमें दर्शन दें, क्योंकि जब भगवान्‌में अनन्य और विशुद्ध प्रेम हो जाता है, फिर भगवान् वहाँ आये बिना रह ही नहीं सकते। भगवान्‌से हम यह जोर देकर कहें कि आप हमें अनन्य और विशुद्ध प्रेम दें और आप हमारे पास न आयें तो भगवान् इस बातको बर्दाश्त नहीं कर सकते। भगवान्‌को बाध्य होकर आना पड़ता है, भगवान् तो यहाँतक कहते हैं कि यह तो तुम मुझे दंड दे रहे हो, जो मुझे आनेके लिये मना कर रहे हो। इसपर एक छोटीसी कहानी याद आ गयी—

एक महापुरुष थे। उन्हें परमात्माकी प्राप्ति हो गयी थी। वे जहाँ निवास करते थे उस देशके राजाको भी परमात्माकी प्राप्ति हो गयी। राजाको इतना आनन्द हुआ कि वह आनन्द समाया नहीं। राजाने सोचा कि क्या मेरे राज्यमें और भी कोई ऐसा पुरुष है जिसे परमात्माकी प्राप्ति हो चुकी हो? इस बातकी परीक्षाके लिये उसने प्रत्येक व्यक्तिके घरपर दूत भेजकर इसका पता लगानेकी युक्ति सोची। राजाने अपने दूतोंको भेजा और कहा कि तुम यह पूछकर आओ कि अगर किसीको कोई अमूल्य वस्तु मिल जाय तो उसे क्या करना चाहिये? जवाबमें किसी-किसीने भयसे यह कह दिया कि हमें नहीं मालूम, किसीने कहा कि तिजोरीमें रखना चाहिये, किसीने कहा कि नंगी तलवारोंका पहरा बैठा देना चाहिये और किसीने कहा कि किसीका विश्वास नहीं करना चाहिये। इस प्रकार अपनी-अपनी बुद्धिसे सबने जवाब दिया। एक चना बेचनेवाला था जिसे परमात्माकी प्राप्ति हो चुकी थी। उसने यह उत्तर दिया कि यदि आपको अमूल्य वस्तु मिली है तो फिर आप हल्ला क्यों करते हैं, डुग्गी पिटवानेसे क्या लाभ? राजाने सबका उत्तर पढ़ा और सबको रद्दीकी टोकरीमें डाल दिया, किंतु उस चना बेचनेवालेका उत्तर पढ़कर राजाको यह अनुभव हुआ कि यह महापुरुष है। राजाकी सवारी हाथी था। अतः राजा उसीपर बैठकर उसकी दुकानका पता पूछकर उसके पास आया। प्रजाके नाते वह हाथ जोड़कर राजाके सामने आकर खड़ा हो गया और कहा कि महाराज, आपने बड़ी कृपा की। बताइये मैं आपके योग्य क्या सत्कार करूँ? मैं तो यहाँ चना बेचता हूँ। आदेश दें तो चनोंका खाली बोरा पड़ा है, उसे आपके लिये बिछा दूँ, मेरे पास आपके स्वागतके लिये यही है। कोई कम्बल भी नहीं है फिर दुशाला तो आये कहाँसे। इतना कहकर बोरा बिछा दिया और राजा उसपर बैठकर बोला कि तुम्हारे बोरेपर बैठकर मुझे जो गौरव और प्रसन्नता है वह गलीचों

और गद्दोंपर बैठनेपर नहीं है। उसपर तो सदा ही बैठता हूँ। मैंने जो प्रश्न सबसे पूछा था उसका उत्तर क्या तुमने ही दिया था कि अमूल्य वस्तु मिल गयी तो हल्ला क्यों मचाते हैं? उसने कहा—हाँ हजूर, मैने ही दिया था, अगर कोई अपराध हुआ हो तो माफ करें। राजाने कहा कि अपराधकी तो कोई बात नहीं है, बल्कि तुम्हारे उत्तरसे तो मुझे जो संतोष हुआ, ऐसा किसीके उत्तरसे नहीं हुआ। तुमने बहुत ठीक बात कही। मुझे सावधान कर दिया—सचेत कर दिया। मैं तुमपर बहुत खुश हुआ, मुझे बड़ा संतोष हुआ। अब मैं तुम्हें संतुष्ट करना चाहता हूँ। मैं तुम्हारी क्या सेवा करूँ? तुम जो कहो मैं करनेको तैयार हूँ। उस चना बेचनेवालेने कहा कि महाराज, यदि आप मुझे वचन दें तो मैं अपने हृदयकी बात आपसे कहूँ। राजाने सोचा कि मेरे कोई लड़का नहीं है, यह ज्यादा-से-ज्यादा मेरा राज्य भी माँग लेगा तो ऐसे महापुरुषके हाथमें राज्य भी चला जाय तो प्रजाका कल्याण होगा और अपने पास जो चीज नहीं है उसे तो कोई माँग भी नहीं सकता। जैसे मुझसे कोई कह दे कि भारतवर्षका राज्य तुम मुझे दिला दो। कोई नहीं कहेगा, क्योंकि सब समझते हैं कि भारतवर्षका राज्य दिलाना इसके वशकी बात नहीं। जो चीज हमारे हाथमें नहीं, उसके लिये कैसे कहेगा? यह सोचकर राजाने कहा कि जो चीज हमारे अधिकारमें है उसमें जो तुम माँगोगे, वह मैं तुम्हें दे दूँगा, यह मैं वचन देता हूँ। इसपर उसने कहा कि मेरी यही माँग है कि आज तो आप मेरे यहाँ पधारे, यह आपकी बड़ी भारी कृपा है, परंतु भविष्यमें न तो आप हमारे यहाँ आयें और न कभी मुझे बुलायें। राजाने कहा—अरे, यह क्या माँगा? इसपर उसने कहा कि तो क्या मैं आपसे राज्य माँगूँ? आप ही सोचें मैं आपसे क्या माँगूँ। राजाकी आँखें खुलीं कि ऐसे महापुरुषके लिये, जिसे परमात्माकी प्राप्ति हो चुकी है, राज्य तो कलंक है, राज्य लेकर क्या करेगा? राजाने फिर कहा कि महाराज, आपने कहा

कि मुझे बुलाना नहीं, तो आपको बुलानेकी तो हमारी सामर्थ्य ही नहीं है कि मैं आपको बुलाऊँ, किंतु मुझे आनेके लिये मना क्यों किया? उसने उत्तर दिया कि यदि आप यहाँ आयेंगे तो बहुत लोग आकर मुझे तंग करेंगे कि आप राजाके पास हमारी सिफारिश कर दें। मैं अपना चना बेचकर गुजारा करता हूँ, उसमेंसे ही समय निकालना पड़ेगा और यह मेरी इच्छा नहीं कि मैं अपने शरीरके निर्वाहके लिये किसीसे याचना करूँ। चाहे शरीर न रहे, किंतु अपने शरीरके पोषणके लिये मुझे याचना करनी पड़े, यह मेरे लिये कलंक है तथा मैं आपके राज्यके पैसेका क्या करूँगा? वह मेरे कामकी चीज नहीं है। इसीलिये मैंने यह कहा कि आप यहाँ मिलने न आयें और न मुझे बुलायें। राजा बोले—बात यह है कि आप-जैसा पुरुष मुझे मिल गया, किंतु मैं यह नहीं समझता था कि आप वरदानमें ऐसी बात माँगेंगे। खैर, मेरी बुद्धिमें यह बात ही नहीं थी। अच्छा आपने अपने साथ सत्संग करनेमें रुकावट क्यों डाली? उसने कहा कि यदि आपको अमूल्य वस्तु मिल गयी तो आपको हमारी जरूरत ही क्या है? और यदि मुझे आपकी जरूरत होगी तो अपने लिये तो मैंने अपना आना खुला रख ही रखा है। मैं आपके पास आ जाऊँगा, इसके लिये तो कोई मनाही है नहीं। मैं अपनी खुशीसे आपके पास आऊँगा, इसपर तो रोक नहीं है। मैंने तो आपको रोका है और यदि मुझे गरज पड़ेगी तो मैं आपके पास आ जाऊँगा, किंतु आपको कोई गरज नहीं होनी चाहिये, क्योंकि आपको अमूल्य वस्तु मिल गयी यानी आपको तो परमात्माकी प्राप्ति हो गयी है। अतः आपको मुझसे मिलनेमें क्या फायदा? इसीलिये मैंने आपका आना रोक दिया और अपना खुला रखा। मैंने यह कहा है कि आप मुझे नहीं बुलावें, यह नहीं कहा है कि मैं आपके पास नहीं आऊँगा। इसपर राजाने कहा कि मैं आपको नहीं बुलाऊँगा तथा मैं आपके पास नहीं आऊँगा इसपर तो बन्धन है, इसलिये

मेरी आपसे यह प्रार्थना है आप मुझे बुला भी सकते हैं और मेरे यहाँ आ भी सकते हैं। आप तो यह सब कर सकते हैं न, किंतु आपको कोई इच्छा नहीं, कोई गरज नहीं, कोई जरूरत नहीं। चनेवालेने कहा कि आपका कहना ठीक है, पर मुझे गरज नहीं है यह मैं कब कहता हूँ, मैं तो कहता हूँ कि मुझे आवश्यकता होगी तो मैं आऊँगा। मैं यह भी नहीं कहता कि आपको परमात्माकी प्राप्ति हो गयी इसलिये गरज नहीं और मुझे पहलेसे ही प्राप्ति है इसलिये गरज नहीं। मुझे गरज होगी तो मैं आ जाऊँगा, क्योंकि मेरे लिये तो मार्ग खुला हुआ है। राजाने कहा कि यद्यपि आपको कोई गरज नहीं है, फिर भी मेरी प्रार्थना है कि आप मुझे ही समय-समयपर बुला लिया करें, क्योंकि आप तो मुझे बुला सकते हैं। उसने कहा—हाँ, आवश्यकता होगी तो बुला लूँगा। यह है निष्कामभाव।

अब आप खयाल करके देखें कि इसमें कितना त्यागका रहस्य भरा हुआ है। राज्यकी या धनकी कोई परवाह नहीं और यह अहंकार भी नहीं कि मुझे किसी प्रकारकी आवश्यकता नहीं।

तात्पर्य यह कि भगवान्‌के दर्शनके प्रभावसे दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन, पाप, क्लेश और दुःख आदि सबका अत्यन्त अभाव हो जाता है। भगवान्‌के दर्शनके प्रभावसे तो ऐसा होना मामूली बात है, क्योंकि यह सब तो भगवान्‌के दर्शनके आभाससे हो जाता है। सूर्यका उदाहरण देकर मैंने आपको बतलाया है कि सूर्यभगवान्‌के दर्शनके लिये हम प्रार्थना करें और सूर्यभगवान् हमारे यहाँ आ जायँ तो क्या वहाँ अन्धकार रहेगा। अतः सूर्यसे यह प्रार्थना करनी बेकार है कि आप हमारे अन्धकारका नाश कर दें। हम दर्शनके लिये प्रार्थना करते हैं तो उसके अन्तर्गत ही वे सब बातें आ जाती हैं। प्रश्न उठता है कि जब दर्शनके आभासमात्रसे दुर्गुण, दुराचार, पाप, क्लेश आदिका अत्यन्त अभाव हो जाता है, फिर भगवान्‌के दर्शनसे क्या लाभ होता है?

भगवान्‌के दर्शनसे सदाके लिये परम शान्ति और परम आनन्दकी प्राप्ति हो जाती है। परमात्माका यथार्थ ज्ञान हो जाता है, ऐसा होना स्वाभाविक है। यह कोई महत्त्वकी चीज नहीं है। जैसे सूर्यभगवान् हमारे यहाँ आ जायँ तो उनके आनेपर यहाँ प्रकाश हो जाना स्वाभाविक है। सूर्यके तापसे स्वाभाविक ही शीतका निवारण हो जाता है। इसी प्रकार अज्ञानका निवारण हो जाना, परम शान्ति और परम आनन्दका मिल जाना तो साधारण-सी बात है। भगवान्‌का दर्शन होकर जो नित्य-मिलन है, वह विशेष महत्त्वकी बात है। भगवान् उसके हो जाते हैं, वह भगवान्‌को खरीद लेता है और भगवान् उसके अधीन हो जाते हैं यह अलौकिक बात है। भगवान्‌को भगवान् माननेसे, समझनेसे, विश्वास हो जानेसे ये सब बातें हो जाती हैं। भगवान्‌के प्रभावको जाननेसे भगवान्‌में जो अनन्य प्रेम हो जाता है वह एक अद्भुत बात है। भगवान्‌में अनन्य और विशुद्ध प्रेम होनेसे भगवान् मिलते हैं। यदि कोई कमी रह भी जाती है, तो वह भगवान्‌का दर्शन होनेसे पूरी हो जाती है, वह सम्बन्ध फिर कभी टूटता ही नहीं। जब भगवान्‌के संगसे या एक क्षणके दर्शनसे अद्भुत लाभ हो जाता है, फिर उनका संग रहे तो बात ही क्या है? दर्शन होनेके बाद फिर हम संग छोड़ नहीं सकते। हमारी यह ताकत नहीं कि हम भगवान्‌के संगको छोड़ सकें। यदि भगवान् अन्तर्धान हो जाते हैं तो इसमें हमारा वश नहीं, फिर भी वे हमारे मनको तो चुराकर ले ही जाते हैं। भगवान् भाग जाते हैं, पर साथ-साथ हमारे हृदयको भी ले जाते हैं। फिर शरीरमें हमारा मन नहीं रहता, मनसे भगवान्‌का चिन्तन होता रहता है। उन्हें हम कभी भूल नहीं सकते। भगवान्‌के दर्शनकी और भगवान्‌के संगकी महिमा हम क्या बतला सकते हैं? भगवान्‌के भेजे हुए कोई महापुरुष यहाँ आ जायँ और हम उन्हें पहचान लें तो उनके दर्शनका महत्त्व भी अलौकिक है

फिर भगवान्‌की तो बात ही क्या है? हमारे दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन आदि दोष तो उनके दर्शनसे ही दूर हो जाते हैं। इतना ही नहीं हमारेमें सद्‌गुणों और सदाचारकी बाढ़ आ जाती है। किसी साधनके बिना ही हमारे हृदयमें परम शान्ति और परम आनन्दकी लहरें उठने लगती हैं।

यह सब उन महापुरुषोंके संग यानी दर्शनसे होता है। कैसे महापुरुषोंके? भगवान्‌के भेजे हुए वेदव्यासजी-जैसे महापुरुषोंके। प्रश्न उठता है कि जिस समय वेदव्यासजी यहाँ थे उस समय ऐसी बात देखनेमें तो नहीं आती थी, क्योंकि उनके दर्शन तो हजारों आदमी करते थे। उनके ही क्यों, उस समय तो भगवान् श्रीकृष्णजी भी थे, उनके भी दर्शन हजारों आदमी करते थे। वह तो बिना समझा साधारण दर्शन है, उसका ऐसा महत्त्व नहीं है। जिन्होंने वेदव्यासजीको महापुरुष समझकर दर्शन किया है उनकी तरफ ध्यान देकर देखना चाहिये। स्वाभाविक ही वेदव्यासजीके दर्शन हजारों लाखों आदमियोंको होते थे, इसी प्रकार भगवान् श्रीराम और भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन भी हजारों-लाखों आदमियोंको होते थे। यद्यपि उनका दर्शन होना भी लाभकी बात है, किंतु हमने जो महिमा बतायी वह तो उनके ज्ञानसे ही है, बिना ज्ञानके नहीं। ज्ञान होनेसे उनमें स्वाभाविक ही श्रद्धा हो जाती है, प्रेम हो जाता है फिर उसकी तो बात ही क्या है?

एक छोटीसी कहानी है—कुछ आदमी एक गाँवसे दूसरे गाँव जा रहे थे। सायंकालका समय था। बरसातके साथ इतनी जोरसे आँधी आयी कि मनुष्यको अपना हाथ भी नहीं दीखता था। ऐसी परिस्थितिमें वे सभी व्याकुल हो गये। किंतु भगवान्‌की दयासे उस जंगलमें यात्रियोंके ठहरनेके लिये एक धर्मशाला थी। उस धर्मशालामें कई कमरे थे, जिनमें वे ठहर गये। उस समय दियासलाई आदि साधन नहीं थे। हवा ठंडी चल रही थी, इसलिये सब चाहते थे कि यदि आग होती

तो उससे ताप भी लेते, रसोई बनाकर भोजन भी कर लेते और दीपक जलाकर रोशनी भी कर लेते। उनके पासमें सामान सब था। बरतन, घी, आटा आदि भोजनकी सब चीजें थीं; किंतु केवल आग नहीं थी। इधर-उधर खोजनेपर भी आग नहीं मिली। वहाँ जितने कमरे थे उनमें एक कमरा गरम था, बाकी सब ठंडे थे। उस गरम कमरेमें रहनेवालोंने सोचा कि क्या कारण है कि यह कमरा गरम है, बाकी सब ठंडे। उन्होंने खोज की। खोज करनेसे कमरेमें एक कोनेमें राखसे ढकी हुई आग मिल गयी। ऊपर राख आयी हुई थी, इसलिये वह दीखती नहीं थी। राख हटाये तो वहाँ आग मिल गयी। ईंधन और लकड़ी तो वहाँ पड़ी ही थी, आग मिलनेसे उसको जला दिया। आगके जलनेपर आस-पासके कमरेवाले भी दौड़कर आये और कहा कि हमको भी थोड़ी आग दो। उन्होंने पूछा कि क्या करोगे आगका? जवाब मिला कि रसोई बनायेंगे तथा दीपक जलायेंगे। उन्होंने आग ले जाकर रसोई बनायी, दीपक जलाया और आराम किया। फिर और दो आदमी आये और बोले कि हमें भी थोड़ी आग दो। उनमेंसे एकसे पूछा कि तुम हो कौन और इसका क्या करोगे? उसने कहा कि मैं ब्राह्मण हूँ और परमात्माकी प्राप्तिके लिये अग्निहोत्र करूँगा। उसके बाद रसोई बनाकर भोजन भी करूँगा। दूसरे आदमीसे भी इसी तरह पूछा तो उसने कहा कि मैं भी अग्निहोत्र करूँगा। 'किसलिये करोगे' यह पूछनेपर उसने कहा कि हम धनके लिये अग्निहोत्र करेंगे। पहलेसे पूछनेपर उसने कहा कि मैं परमात्माकी प्राप्तिके लिये निष्कामभावसे अग्निहोत्र करता हूँ। सबको उन्होंने आग दे दी। इस प्रकार सबने अपनी इच्छा-पूर्ति की। यह दृष्टान्त है उसे दार्ष्टान्तमें इस प्रकार घटाना चाहिये।

यहाँ यात्रियोंका तथा हमारा जो संग है उसी प्रकारका है। वहाँ जो अन्धकार है वह यहाँ माया है जिसमें हम सब पड़े हैं। जिस प्रकार

जंगलमें घोर अँधेरा है, उसी तरह हम मायारूपी घोर अँधेरेमें पड़े हैं। हमारे पास सामग्री है पर आग नहीं है। आगसे सभी काम हो सकते हैं। आगका ज्ञान गरम कमरेसे हुआ और ज्ञान होनेके बाद उन्होंने आगसे लाभ उठाया। फिर जिनकी आगमें (अग्निदेवताके रूपमें) श्रद्धा थी उन्होंने यज्ञ किया। वे समझते थे कि अग्नि देवता हैं। दूसरे लोग भी आगसे लाभ उठा रहे हैं पर कितना? रसोई बनानेका और प्रकाश करनेका। जो ब्राह्मण निष्कामभावसे श्रद्धापूर्वक अग्निहोत्र करता है, वह परमात्माकी प्राप्तिके लिये करता है तथा जो सकामी ब्राह्मण हैं उन्होंने सकामभाव यानी धनकी प्राप्तिके लिये यज्ञ करके धनका लाभ लिया। इसी तरह भगवान्‌के नामका, गङ्गा तथा महापुरुषों और ईश्वरका संग है। ये सभी अग्निकी भाँति हैं। जिस प्रकार जब अग्निका ज्ञान नहीं था तब भी कमरा तो गरम था ही, इसी प्रकारसे यद्यपि महापुरुषोंका ज्ञान नहीं है तब भी सामान्य लाभ तो सबको मिलता ही है। इसी तरह ईश्वरका ज्ञान नहीं है, गङ्गाजीमें श्रद्धा नहीं है तब भी गङ्गामें स्नान करनेसे और ईश्वरके नामका जप बिना प्रभाव जाने करनेसे भी सामान्य यानी साधारण लाभ तो मिलता ही है। यदि भगवान्‌के नामके प्रभावका ज्ञान हो जाय तो विशेष लाभ हो सकता है। मान लें हम मोटरोंमें चलते हैं और बीचमें कहीं नदी आ गयी और हमें मालूम नहीं है कि यह गङ्गा है या मन्दाकिनी है या कौन-सी नदी है। पर हमने नदी समझकर स्नान कर लिया, तब भी हमको लाभ तो होता है, किंतु यदि हम गङ्गा समझकर स्नान करते तो विशेष लाभ होता। इसी प्रकार हम बिना ज्ञानके भगवन्नामका जो उच्चारण कर रहे हैं, उससे भी लाभ है और 'यह भगवान्‌का नाम है' जैसे 'राम' भगवान्‌का नाम है और हम इसका उच्चारण कर रहे हैं—'राम-राम' जप रहे हैं तो ज्यादा लाभ है। कोई महात्मा हैं और उनका हमें ज्ञान नहीं है तब भी हमको लाभ है और हमें

यदि मालूम हो जाय कि ये महात्मा हैं तो उससे और विशेष लाभ है। जैसे भगवान् श्रीकृष्णको गोपियाँ जानती थीं। अर्जुन जानते थे, ऋषि लोग जानते थे और भी बहुत-से लोग जानते थे। गीतामें अर्जुन कहते हैं—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥

(गीता १०। १२-१३)

हे प्रभो! सभी ऋषि, देवर्षि नारद, असित, देवल, व्यास आदि मुनि आपको परम ब्रह्म, परम धाम, परम पवित्र, शाश्वत पुरुष, दिव्य पुरुष, आदिदेव, अज तथा सर्वव्यापी कहते हैं और आप स्वयं भी तो कहते हैं।

भगवान् स्वयं अर्जुनसे कहते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

(गीता ४। ६)

—'मैं अज, अविनाशी और सब भूतोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको वशमें करके अपनी योगमायासे संसारमें अवतार लेता हूँ।' इस तरह अर्जुन भगवान्‌को जानता था और बहुत लाभ उठाता था। यह है ज्ञानसे लाभ उठाना। इससे भी ज्यादा लाभ होता है श्रद्धासे। जिन्हें अग्निका साधारण ज्ञान है वे भी उससे लाभ उठा रहे हैं। अग्निसे वे रसोई बना रहे हैं, दीपक जला रहे हैं—इतना लाभ तो उठा ही रहे हैं; किंतु उनकी यह श्रद्धा नहीं है कि अग्नि देवता हैं, अतः इस लाभसे वंचित रहते हैं। ब्राह्मणको विश्वास है कि अग्नि देवता हैं, वह सकामभावसे अग्निकी उपासना करता है तो उसे रुपया भी मिल जाता है। दूसरे ब्राह्मणकी श्रद्धा भी है और उसका भाव भी निष्काम है। वह

सोचता है कि अग्निसे रुपया क्या माँगूँ, मैं यदि निष्कामभावसे उपासना करूँगा तो मेरी आत्माका उद्धार हो जायगा। इसलिये वह निष्कामभावसे उपासना करता है। इसी प्रकार सब विषयोंमें समझना चाहिये। ईश्वर और महापुरुषको पाकर यदि हम उनसे सांसारिक काम लेते हैं तो उन कामोंकी सिद्धि तो हो जाती है, किंतु वह हमारी मूर्खता है जो हम उस महात्मासे या ईश्वरसे सांसारिक लाभ उठाते हैं, जैसे कोई मुझसे १०० रु० महीनेके रोजगारका तरीका पूछे और उसे मैं बतला दूँ या कोई ज्ञानी-वैद्यसे कहे कि हमारा लड़का बीमार है कोई दवा बता दें और वह उसकी नाड़ी देखकर दवा बता दे या कोई किसी ज्योतिर्विद्से कहे कि हम रुपया कमानेके लिये जा रहे हैं आप हमें कोई ऐसा मुहूर्त बता दें जिससे हमें सफलता प्राप्त हो जाय। इसी प्रकार कोई बीमारीकी निवृत्तिके लिये, कोई धनके लिये, कोई पुत्रके लिये, कोई किसी प्रकारकी कामना-पूर्तिके लिये ईश्वर और महात्माके द्वारा अपनी सिद्धि चाहता है तो वह सिद्धि तो हो जाती है, किंतु वह तुच्छ लाभ है। यदि निष्कामभावसे हम ईश्वर और महात्माकी सेवा करें, उपासना करें, उनका संग करें तो हमारा कल्याण हो सकता है। इसी प्रकार गङ्गाजी हैं। यदि गङ्गाजीमें हम कोई कामना लेकर स्नान करें और गङ्गाके प्रभावका ज्ञान नहीं है तब भी स्नान करनेसे लाभ है। ज्ञान होनेसे और विशेष लाभ है। गङ्गामें श्रद्धा होनेसे और अधिक लाभ है। गङ्गाके विषयमें क्या कहा जाय इनके नामका उच्चारण करनेसे मुक्ति हो जाती है। गङ्गाका दर्शन करनेसे मुक्ति हो जाती है। 'गङ्गा-गङ्गा' ऐसा शब्द उच्चारण करें तो भी हमारा कल्याण हो सकता है। हमारी श्रद्धा हो तो हमारी मुक्ति हो सकती है। यदि इतनी श्रद्धा न होकर थोड़ी भी श्रद्धा हो कि गङ्गामाता, हम आपके यहाँ आये हैं, मेरे कोई लड़का नहीं है, आप मुझे लड़का दे दें। कोई कहे कि मैं दरिद्र हूँ, आप मुझे रुपया

दे दें, कोई कहे कि मेरे ऊपर ऋण है, आप ऋण दूर कर दें तो गङ्गामाता यह काम भी कर सकती हैं। गङ्गासे यदि हम छोटी चीज माँगें तो हमारा छोटापन है। गङ्गासे तो हमें वह चीज माँगनी चाहिये जिससे हमारा कल्याण हो जाय। हम जितनी श्रद्धा करें उतनी थोड़ी है। यदि गङ्गाके बारेमें हम यह कहें कि यह भगवान्‌के चरणोंका जल है तो ठीक है, यह भी श्रद्धा है। परंतु इतना समझते हुए भी यदि हम यह कहें कि यह तो साक्षात् भगवान् ही हैं, साक्षात् भगवान् गङ्गा होकर बह गये। इससे हमको वही लाभ होगा जो भगवान्‌के दर्शनसे होना चाहिये। इस प्रकार जितनी श्रद्धा करे उतनी ही कम है। इसी प्रकार भगवान्‌के भजनकी बात है। रुपयोंके लिये, धनके लिये, स्त्री-पुत्र आदिके लिये भजन करते हैं तो इससे हमें स्त्री, पुत्र, धन आदि चीजें मिलती हैं। यदि भजन अपनी आत्माके कल्याणके लिये करें तो आत्माका कल्याण हो जाता है। कई आदमी 'हे नाथ-हे नाथ' कहकर भगवान्‌के दर्शनके लिये भजन करते हैं। ऐसे हम भगवान्‌को पुकारें या नारायण नामसे पुकारें; हृदयसे, विश्वाससे, श्रद्धासे पुकारें तो भगवान् आ सकते हैं—दर्शन दे सकते हैं। जिस समय हम पुकारते हैं, उस समय यदि हमारे हृदयमें यह निश्चय रहे कि हम पुकारते तो हैं, किंतु भगवान् आयेंगे नहीं, तो भगवान् भी समझते हैं कि यह मुझे बुलानेके लिये नहीं पुकारता है, इसकी आदत पड़ गयी है पुकारनेकी, इसके मनमें यह विश्वास नहीं है कि मैं आऊँगा; फिर भला भगवान् क्यों आयेंगे? श्रद्धा और विश्वास होना चाहिये। श्रद्धा और निष्कामभाव हो तो और ज्यादा लाभ है। श्रद्धा तो यह भी है कि अपने भगवान्‌का भजन और भक्ति रुपयोंके लिये या राज्यके लिये करते हैं। जैसे ध्रुवजीने भगवान्‌की भक्ति की। महापुरुषोंके संग और दर्शनसे लाभ होता है, इसमें तो बात ही क्या है, गङ्गाके संग और दर्शनसे भी लाभ

होता है। प्रश्न उठता है कि महापुरुष गङ्गासे भी बढ़कर हैं क्या? हाँ, इसमें क्या कहना, धर्मराज युधिष्ठिरने भक्तराज विदुरजीसे कहा—

भवद्विधा भागवतास्तीर्थभूताः स्वयं विभो।
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता॥

(श्रीमद्भा० १। १३। १०)

प्रभो! आप-जैसे भगवान्‌के प्यारे भक्त स्वयं ही तीर्थस्वरूप होते हैं। आप लोग अपने हृदयमें विराजमान भगवान्‌के द्वारा तीर्थोंको भी तीर्थ बनाते हुए (पवित्र करते हुए) विचरण करते हैं।

महापुरुष तीर्थोंमें तीर्थोंको तीर्थ बनानेके लिये जाते हैं। अपने पवित्र होनेके लिये नहीं, बल्कि तीर्थोंको पवित्र करनेके लिये जाते हैं। ब्रह्माजीने जब गङ्गाजीको आज्ञा दी कि तुम मृत्युलोकमें जाकर वहाँके लोगोंको पवित्र करो तो गङ्गाजी रोकर बोलीं कि महाराज, मेरेमें हजारों-लाखों आदमी आकर स्नान करेंगे और सबका पाप मेरेमें इकट्ठा होगा। वे तो मेरेमें स्नान करके पवित्र हो जायँगे, फिर मेरी क्या दशा होगी, ब्रह्माजीने कहा कि तू चिन्ता मत कर, कारण कि—

साधवो न्यासिनः शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोकपावनाः।
हरन्त्यघं तेऽङ्गसङ्गात् तेष्वास्ते ह्यघभिद्धरिः॥

(श्रीमद्भा० ९। ९। ६)

कोई भी एक महापुरुष यदि तुम्हारेमें आकर स्नान कर लेगा तो तेरे सारे पाप भस्म हो जायँगे। जितने भी तीर्थ बने हैं वे सब महापुरुषोंके चरणोंके प्रतापसे और ईश्वरकी कृपाके प्रतापसे बने हैं। पर वैसे महापुरुष अब कहाँ हैं?

भगवान् निराकाररूपसे सब जगह हैं तथा प्रेमसे प्रकट होते हैं। जिनके लिये भगवान् प्रकट होते हैं, उनको जो दर्शन होता है, उस दर्शनकी विशेष महिमा है। जब भगवान् स्वाभाविक ही अवतार लेते हैं

तब उस समय भी लोगोंको दर्शन होता है, पर उस समय तो जिनमें श्रद्धा और प्रेम होता है उनको ही ज्यादा लाभ होता है बाकीको कम लाभ होता है। मैंने आपको चार प्रकारके लाभ बताये—१-सामान्य यानी साधारण लाभ, २-मुख्य लाभ, ३-विशेष लाभ और ४-अनन्य लाभ। भगवान्‌की जो प्राप्ति है अनन्य लाभ है, भगवान्‌के द्वारा जो और चीजोंकी प्राप्ति है विशेष लाभ है। भगवान्‌के द्वारा उत्तम गुण, उत्तम भाव और उत्तम आचरणकी प्राप्ति वास्तवमें विशेष लाभ है और सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्ति सामान्य लाभ है। लाभ तो होता ही है—चाहे सामान्य लाभ हो, चाहे विशेष लाभ हो या अनन्य लाभ हो—पूर्ण लाभ हो। ये सब अलग-अलग लाभ होते हैं। इसी प्रकार गङ्गाजीसे, भगवान्‌के नामके जपसे, साधनसे, महापुरुषोंसे लाभ होता है। यह खयाल रखना चाहिये कि परमात्माकी प्राप्तिसे, दर्शनसे, भाषणसे, वार्तालापसे, संगसे जो लाभ होता है वह एक नम्बरका लाभ है। उससे बढ़कर दुनियामें और कोई लाभ नहीं है। जो लाभ महापुरुषोंसे होता है वह दो नम्बरका लाभ है। इसी प्रकार साधनोंसे भी लाभ होता है। गङ्गास्नान, तीर्थ, व्रत, जप, ध्यान, उपवास, कर्मयोग, भक्तियोग—ये सब साधन हैं, साधनके द्वार हैं। इनके द्वारा भी हम लोगोंको उत्तम-से-उत्तम लाभ हो जाता है। इन सब पदार्थोंसे साधारण लाभ भी होता है, विशेष लाभ भी होता है और उत्तम-से-उत्तम लाभ भी होता है। अपना भाव उच्च कोटिका होना चाहिये। हमारे भावमें निष्कामभाव हो तो वह बड़े उच्च कोटिका है। स्वार्थका त्याग और हृदयमें श्रद्धा तथा प्रेमका भाव बड़े उच्च कोटिका भाव है। भगवान्‌में प्रेम होना चाहिये, श्रद्धा होनी चाहिये और निष्कामभाव होना चाहिये। ऐसा भाव होकर यदि भगवान्‌का दर्शन हो या संग हो तो इससे बढ़कर और क्या बात हो सकती है।

महत्त्वपूर्ण बात

हम सभी लोग बहुत दिनोंसे परमात्माकी प्राप्तिकी चेष्टा कर रहे हैं, किंतु परमात्माकी प्राप्ति अभी हुई नहीं है। अपने मनमें है कि हम खूब प्रयत्न करते हैं, किंतु इसमें कमी है। प्रत्येक भाईको अपनी कमीकी ओर ध्यान देना चाहिये। संसारके विषय-भोगोंमें, पदार्थोंमें, अपने शरीरमें, कंचन और कामिनीमें, मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा आदिमें आसक्ति ही इसमें बाधक है। आसक्तिके कारण ही इच्छा पैदा होती है, काम और लोभकी उत्पत्ति होती है। इसीके कारण संसारके विषय-भोगोंमें ममता हो जाती है, आकर्षण हो जाता है, जिससे मनुष्य विषयोंमें डूब जाता है, भोगोंमें फँस जाता है। जैसे अज्ञानके कारण दलदलमें गाय फँस जाती है और अन्तमें तड़प-तड़प कर मरती है, पतंगे दीपककी शिखाको सुख समझकर उसके निकट जाते हैं और झुलस कर तड़प-तड़प कर मरते हैं। यही दशा विषयासक्त पुरुषोंकी है।

हमको सब प्रकारसे स्वार्थका त्याग करना चाहिये। शुरुमें रुपयोंका लोभ मनुष्यको गिरा देता है। रुपयोंको आदर देना, महत्त्व देना बहुत ही खतरेकी चीज है, परंतु विषयासक्त पुरुषको रुपयोंको आदर देना ही पड़ता है; क्योंकि वह विषयोंका दास है। यदि चित्तमें वैराग्य हो तो मनुष्य ऐश-आराम, स्वाद-शौकीनी, भोग-विलास आदिका क्षणमें त्याग कर सकता है। असंग अनासक्ति-वैराग्यरूपी तीव्र शस्त्रके द्वारा अहंता, ममता, कामना, वासना, आसक्ति आदि फाँसियोंको काट सकता है—

अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥

(गीता १५। ३)

इस संसाररूपी वृक्षकी जड़ें—अहंता, ममता, कामना, वासना, आसक्ति आदि बहुत गहन हैं; संगका नाम राग और असंगका नाम वैराग्य है। वैराग्य भी तीव्र एवं दृढ़ होना चाहिये। तीव्र वैराग्यरूपी शस्त्रके द्वारा संसाररूपी वृक्षको मनुष्य काट सकता है। संसारमें सम्बन्धरहित होना ही संसार-वृक्षको काटना है। मनसे संसारका सम्बन्ध-विच्छेद करना ही उसको काटना है। इसके बाद उस पदका अन्वेषण करना चाहिये जहाँ जाकर फिर वापस नहीं आना पड़ता। 'पद' शब्दके अनेक नाम हैं, जैसे धाम, निधान, परमपद। 'पद' शब्दको इनमेंसे किसी भी नामसे उच्चारित किया जा सकता है—

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥

(गीता १५। ४)

उस पदकी, उस परमधामकी, उस निजधामकी—परमपदकी खोज करनी चाहिये जिस परमात्मासे इस संसारकी उत्पत्ति हुई है एवं विस्तार हुआ है, उस परमात्माकी शरण होना चाहिये। जिसे पाकर—जिस परमात्माको पाकर—जिस परमपदको पाकर फिर संसारमें लौटकर नहीं आना पड़े। उसकी शरण होना चाहिये, यह सबसे बढ़कर उपाय है। संसारमें सुख-बुद्धि करनेके कारण आसक्ति होती है। शरीरमें तथा संसारमें एवं भोगोंमें जो सुख-बुद्धि है वह अज्ञानसे है। वास्तवमें इसमें सुख है ही नहीं, मूर्खतासे सुख प्रतीत होता है। इस प्रकारसे प्रतीत

होनेवाले मिथ्या सुखको सुख मानकर जीव इसमें फँस जाता है और वह जालमें फँसी हुई मछलीकी तरह तड़प-तड़प कर मर जाता है। ध्यान देना चाहिये कि संसारके सारे पदार्थ नाशवान्, क्षणभंगुर हैं, ऐसा समझकर इनसे वैराग्य करना चाहिये—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(गीता ५। २२)

इन्द्रियों और विषयोंका जो सम्बन्ध—संस्पर्श है और उससे उत्पन्न हुआ जो सुख है वह संस्पर्शजन्य सुख है। वह सांसारिक सुख इन्द्रियों और विषयोंके सम्बन्धसे होनेवाला है; उसको राजसी सुख बतलाया गया है। यह नाशवान् है, क्षणभंगुर है। यह आरम्भमें अमृतके समान दीखता है, इसमें जीव फँस जाते हैं और इसका परिणाम विषके समान फलदायी होता है। वे सुख इन्द्रियों और विषयोंके सम्बन्धसे उत्पन्न होते हैं जो दुःखके हेतु हैं, आदि-अन्तवाले हैं, क्षणभंगुर हैं ऐसा समझकर विवेकी उनमें नहीं फँसते। जिसके चित्तमें थोड़ा विवेक है, वह नहीं फँसता, मूर्खलोग फँसते हैं। इस प्रकार समझकर मनुष्यको किसी प्रकार संसार और संसारके पदार्थोंको महत्त्व नहीं देना चाहिये। अपने किसी भी प्रकारके बड़प्पनका—पदका जैसे मैं ब्राह्मण हूँ, मैं संन्यासी हूँ, मैं पिता हूँ, मैं मैनेजर हूँ, मैं कलेक्टर हूँ—ऐसे ही और भी किसी प्रकारके पदका अपने मनमें कभी भी न अभिमान करना चाहिये, न आदर देना चाहिये। हाँ, दूसरोंके पदका आदर अवश्य करना चाहिये। दूसरोंका अनादर करनेका हमारा क्या अधिकार है। अपने नामका, रूपका, धनका, अपनी इज्जतका, अपने कुटुम्बका या अपने बलका यानी किसी भी प्रकारका अभिमान अपनी आत्माका पतन करनेवाला है। अभिमानसे बहुत दूर रहना चाहिये तथा इन नाशवान् पदार्थोंको भी

महत्त्व नहीं देना चाहिये। जैसे धन है, विद्या है, बल है, अपना शरीर है, अपना किसी भी प्रकारका बड़प्पन है, अपनेमें गुण है, पद है या कोई भी आचरण है, कोई भी अपनेमें अच्छापन है आदि किसीको भी कभी महत्त्व नहीं देना चाहिये।

'इतने दिन हो गये अभीतक परमात्माकी प्राप्ति नहीं हुई'—ऐसा मानकर कभी निराश भी नहीं होना चाहिये। क्योंकि परमात्माकी प्राप्तिके लिये जैसा प्रयत्न करना चाहिये वैसा आपने अभी किया नहीं। यदि किया भी है तो कम मात्रामें किया है, इसलिये वह नहींके समान है। परमात्माकी प्राप्तिके लिये बहुत समयकी आवश्यकता नहीं है। इसमें कोई बहुत कठिनाई नहीं है, इसमें कोई परिश्रमका काम नहीं है, केवल समझनेकी आवश्यकता है। अपने हृदयमें जो स्वार्थबुद्धि है उसका त्याग करना चाहिये, बाहरके त्यागसे कोई लाभ नहीं है। यदि लाभ है तो केवल मामूली, असली लाभ तो भीतरके त्यागसे है। यदि आपके दिलमें रुपयोंके लिये आदर है तो भगवान् आपसे बहुत दूर हैं। जो रुपयोंका दास है वह भगवान्‌का दास नहीं है, जहाँ काम है वहाँ राम नहीं हैं। जहाँ रुपयोंका आदर है वहाँ भगवान् नहीं हैं। मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाके लिये न तो हमें इच्छा करनी चाहिये और न ही प्राप्त होनेपर उसका आदर करना चाहिये। जैसे रुपयोंका आदर करना—उसको महत्त्व देना हमारे लिये हानिकर है, इसी प्रकार मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाको आदर देना हमारे लिये खतरनाक है। मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा हो ऐसा कार्य तो करना है, पर मान-बड़ाई प्रतिष्ठाको छूना नहीं है। मान-बड़ाई-प्रतिष्ठामें, शरीरमें और भोगोंमें जो आसक्ति है, प्रीति है, वह खतरेवाली चीज है, उसका त्याग करके आप कहीं भी रहें; चाहे गृहस्थमें, चाहे संन्यासमें—

खतरेवाली वस्तुको जिसने दीन्ही छाड़।
चाहे रहे बजारमें चाहे रहे उजाड़॥

आसक्ति खतरेकी चीज है। शरीरमें, संसारमें, भोगोंमें जबतक आसक्ति है, तबतक आप भगवान्‌से बहुत दूर हैं। गृहस्थाश्रम छोड़कर चाहे घोर जंगलमें चले जाइये कोई विशेष लाभ नहीं है। एकान्त स्थानमें रहें तो वहाँ भय पैदा हो सकता है, क्योंकि आपके चित्तमें वैराग्य नहीं है। जब चित्तमें वैराग्य नहीं है तो गृहस्थाश्रमका त्याग व्यर्थ है और जब चित्तमें वैराग्य हो, गृहस्थाश्रमका त्याग व्यर्थ है। वैराग्य नहीं है तो वनमें—एकान्तमें रहनेमें भी कोई लाभ नहीं है; क्योंकि जब वैराग्य नहीं है तो वहाँ भी फँसाव हो सकता है। यदि वैराग्य है तो हजारों लाखों आदमियोंके बीचमें रहनेमें भी कोई हानि नहीं है!

एक समय राजा जनक संन्यास लेना चाहते थे। जब उनकी स्त्रीको मालूम हुआ तो उसने पतिको समझाया कि आप संन्यास लेते हैं इसका तत्त्व मेरी समझमें नहीं आया। यदि आपके चित्तमें वैराग्य है तो संन्यासकी आवश्यकता नहीं है और वैराग्य है तो आप कहीं रहें संसारके विषयभोग आपको दबा नहीं सकते और यदि चित्तमें वैराग्य नहीं है तो संन्यासाश्रमसे मुक्ति नहीं हो सकती चाहे आप कहीं चले जायँ। यदि कहें कि संन्यासाश्रम लेकर मैं बहुतोंको लाभ पहुँचाऊँगा, बहुतसे संन्यासियोंको लाभ पहुँचाऊँगा। साधु-संन्यासियोंको संन्यास लेनेसे ही लाभ पहुँच सकता है। यदि ऐसी बात है तो संन्यास लेनेपर संन्यासियोंको लाभ पहुँचेगा और गृहस्थीमें रहनेसे गृहस्थियोंको लाभ पहुँचेगा। हम लोग गृहस्थ हैं और हम लोगोंको गृहस्थीमें रहनेसे लाभ पहुँच सकता है। जैसे आप संन्यास लेकर संन्यासियोंको लाभ पहुँचाना चाहते हैं वैसे हम गृहस्थियोंको लाभ पहुँचानेके लिये आपको गृहस्थमें रहना चाहिये। अपनी पत्नीकी युक्तिसंगत और शास्त्रसम्मत बात सुनकर राजा जनकने संन्यासका विचार अपने दिलसे निकाल दिया और फिर वे आजीवन ही गृहस्थाश्रममें रहे। सार बात यह है कि

चित्तमें वैराग्य ही प्रधान है। वैराग्य यदि नहीं है तो चाहे वह कहीं रहे उसको कहीं लाभ नहीं है। यदि वैराग्य है तो वह कहीं रहे उसे सब जगह लाभ है। देश और काल तो निमित्तमात्र हैं। असली चीज तो संसारसे वैराग्य और ईश्वरमें प्रेम है। ईश्वर-विषयक ज्ञान ही सबसे बढ़कर है। कर्मयोगकी सिद्धि बिना वैराग्य नहीं हो सकती, ज्ञानयोगकी सिद्धि परमात्माके तत्त्वको जाने बिना नहीं हो सकती और भक्तियोगकी सिद्धि प्रेमके बिना नहीं हो सकती। संसारसे वैराग्य और भगवान्‌से प्रेम भक्तिके मार्गमें ये दोनों ही बातें पहले हैं। ज्ञानके मार्गमें परमात्माका तत्त्व जानना सत् वस्तु है और संसारमें आसक्ति करना असत् वस्तु है, क्योंकि परमात्मा सत् है और संसार असत्—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

(गीता २। १६)

तत्त्वज्ञानियोंका कहना है कि सत्‌का कभी अभाव नहीं होता और मिथ्या वस्तुका भाव नहीं होता, वह कभी शाश्वत नहीं रहता। जितने ये दृश्य पदार्थ हैं ये सभी नाशवान् हैं, क्षणभंगुर हैं, ये रह नहीं सकते। इस न्यायसे ये सब वस्तुएँ मिथ्या हैं, क्षणभंगुर हैं, मायामात्र हैं, ऐसा समझकर इनको भुला देना चाहिये। भावरूप जो वस्तु है वह परमात्मा है, सत् है, सत् होते हुए चेतन है और चेतन ही आनन्द है और परमात्मा सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप है। सत्-चित्-आनन्द-स्वरूपको छोड़कर जो मिथ्या नाशवान्—क्षणभंगुर पदार्थोंका आदर करता है वह मूर्ख है। भक्तिके मार्गमें प्रेम प्रधान है पर वह प्रेम अनन्य होना चाहिये। जिसका किसी दूसरी वस्तुमें प्रेम है उसको भगवान् नहीं मिलते। भगवान् कहते हैं कि वह भक्ति व्यभिचारिणी भक्ति है। जैसे पतिव्रता स्त्रीका अपने पतिमें प्रेम रहता है और दूसरे पुरुषोंमें भी प्रेम रहे तो

वह स्त्री व्यभिचारिणी है। इसी प्रकार भगवान् कहते हैं कि जो मेरी भक्ति करता है और संसारके विषय-भोगोंमें उसकी आसक्ति रहती है, उसे भोग प्यारे लगते हैं तो ये सब मेरी प्रीतिमें कलंक हैं, उसमें व्यभिचार-दोष है। हरेक मार्गसे विचारनेपर यह बात सिद्ध होती है कि आसक्तिका अभाव होना ही चाहिये। आसक्तिका अभाव तीव्र वैराग्य है। तीव्र वैराग्यके बिना न तो ज्ञानयोगकी सिद्धि हो सकती है, न भक्तियोगकी सिद्धि हो सकती है, और न कर्मयोगकी ही सिद्धि हो सकती है। संसारके इन नाशवान्, क्षणभंगुर अनित्य पदार्थोंमें आसक्ति करना, प्रेम करना मूर्खता नहीं तो क्या है? यह तो अपने गलेमें फाँसी लगाकर मरना है। यह बड़ी भारी खतरेकी चीज है। यह अनादिकालसे है। जबसे यह सृष्टि है और जबसे प्राणीकी जीव संज्ञा हुई, तबसे यह दोष चला आ रहा है। अनादि होते हुए भी इसका विनाश हो सकता है, इसीलिये लोग चेष्टा करते हैं। अज्ञान अनादि होते हुए भी इसका विनाश होता है। ज्ञान एक ऐसी चीज है जिसके बराबर कोई नहीं है—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। (गीता ४। ३८)

ज्ञानके द्वारा पापोंका—अज्ञानका नाश हो जाता है। जितने दोष हैं सारे दोष अज्ञानके कारण ही हैं। दोषोंके होनेमें अज्ञान ही मूल कारण है। अज्ञानको अविद्या भी कहा जा सकता है। सारे दोष अविद्या-आश्रित होते हैं। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि अविद्या आदि जो पाँच क्लेश हैं उनका मूल कारण अविद्या है—

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः (योग० २। ३)

संसारमें पाँच क्लेश हैं—(१) अविद्या (अज्ञान), (२) अस्मिता, (३) राग, (४) द्वेष और (५) अभिनिवेश।

अस्मिताका नाम जड-बुद्धि है, जिसमें चेतनताका समावेश है। चेतन आत्मा और जड-बुद्धि इन दोनोंकी जो एकता है उसका नाम

अस्मिता है। इसे अहंकारके नामसे कहा जा सकता है। अनुकूल पदार्थमें होनेवाली प्रीतिका नाम राग है और प्रतिकूल पदार्थमें होनेवाली प्रीतिका नाम द्वेष है। मरनेसे होनेवाले भयका नाम अभिनिवेश है। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि ये चार जो अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश (मरनेका भय) हैं इन सबकी जड़ अविद्या है—

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषाम्०। (पा० योग० २। ४)

कारणका नाश होनेसे कार्यका नाश अपने-आप हो जाता है। सुख और दुःखकी प्राप्तिमें अविद्या ही कारण है। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं- **'हेयं दुःखमनागतम्।'** (पा० योग० २। १६) अनागत—जो आया नहीं—आनेवाला है, उसको अनागत कहते हैं, जो बीत गया उसको अतीत कहते हैं और जो मौजूद है उसको वर्तमान कहते हैं। अनागत दुःख त्याज्य है, उसका त्याग करना चाहिये। जो बीत गया उसका क्या त्याग करना, उसका तो अपने-आप ही त्याग हो गया। जो प्राप्त है, वर्तमानमें जो मौजूद है—क्षणमें अतीत होनेवाला है—भूत होनेवाला है उसका अपने-आप ही त्याग हो जायगा।

इसलिये आनेवाले दुःखका त्याग करना चाहिये। इसपर विचार करें कि दुःख होनेमें हेतु क्या है? महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि **'द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः'** (पा० योग० २। १७) 'त्यागने-हेतु जो दुःख है उसका हेतु जो संयोग है यानी जड और चेतनका संयोग। जड प्रकृतिको तथा चेतन पुरुषको कहते हैं। चेतन आत्मा और जड—इन सब पदार्थोंका जो समूह है—उनका जो संयोग है, इनके साथमें जो एकता है वह इनका हेतु है। संयोगका हेतु है अविद्या—अज्ञान **'तस्य हेतुरविद्या'** (पा० योग० २। २४)। उसके अभावको **'तदभावात् संयोगाभावो हानम्०'** (पा० योग० २। २५) कहते हैं अर्थात् उसके नाशसे सब दोषोंका नाश हो जाता है। संयोग और अस्मिता एक ही

चीज है, वहाँ अस्मिताके बाद राग-द्वेष है। अतः मूलमें अस्मिता ही राग-द्वेष और अभिनिवेशका कारण है। अस्मिताके नाश होनेसे राग-द्वेष और भय सबका नाश हो जाता है। कारणका नाश होनेसे कार्यका नाश हो जाता है। यहाँ सांसारिक सुख-दुःखकी जो प्राप्ति है उसमें भी संयोग हेतु है। संयोगके नाश होनेसे संसारी सुखों-दुःखोंका नाश हो जाता है। अहंकारके नाश होनेसे यानी 'मैं' के नाश होनेसे राग-द्वेष और भय सबका नाश हो जाता है। 'मैं' अविद्याका एक अङ्ग है, अविद्या माने अज्ञान। देह अनात्म पदार्थ है, आत्मा नहीं है। देहमें जो आत्मबुद्धि है उसीका नाम अविद्या है। देहको यह समझना कि देह मेरी आत्मा है, देह मैं हूँ, इसका नाम अज्ञान है, देह नाशवान् है, अनित्य है और इसमें जो नित्य-बुद्धि है कि मैं सदा ही रहूँगा, उस बुद्धिका नाम ही अविद्या है। देहमें पवित्रताका जो अभिमान है कि मैं पवित्र हूँ, यह भी अविद्या है—अज्ञान है। पवित्र तो परमात्माका स्वरूप है, परमात्मविषयक ज्ञान पवित्र है। शरीर तो महान् अपवित्र चीज है। इस अपवित्र-समूहमें जो पवित्रताकी भावना है यानी शरीर बनकर कहना है कि मैं पवित्र हूँ, शरीर मैं हूँ—यह भी अविद्या है। मेरा शरीर यानी मैं पवित्र हूँ यह भी अविद्या है। संसारके विषय-भोगोंमें जो सुख-बुद्धि है वह भी अविद्या है। संसारके भोग प्रथम तो अनित्य हैं, नाशवान् हैं और यदि सच्चा समझो तो दुःख-रूप हैं। इस दुःखके भीतर जो सुख-बुद्धि है वह अविद्या है, विपरीत ज्ञान है। संसारके विषय-भोगोंमें सुख-बुद्धि, देहके भीतर आत्म-बुद्धि और इन नाशवान् तथा जड पदार्थोंमें नित्य-बुद्धि, इस देह आदि अपवित्र पदार्थोंमें पवित्र बुद्धि आदि जो विपरीत भावना है इसका नाम अविद्या है, इसीका नाम अज्ञान है। इसके नाशसे सुख-शान्ति मिल सकती है और इसका नाश यथार्थ ज्ञानसे हो सकता है। इसलिये यथार्थ ज्ञानकी आवश्यकता है।

यथार्थ ज्ञानकी प्राप्तिके बहुतसे साधन हैं। इनमेंसे निष्कामभावसे कर्म करना, ईश्वरकी भक्ति करना भी एक साधन है। ऐसे बहुतसे साधन हैं जिनकी तरफ ध्यान देकर अपने जीवनको उच्च कोटिका बनाना चाहिये।

मन बड़ा पाजी है, धोखेबाज है। हमें बुरी शिक्षा देता रहता है। कभी तो निराशा उत्पन्न करता है कि भगवान्‌की प्राप्ति कठिन है, मुश्किल है, असम्भव है जिससे उसका दिल टूट जाता है फिर वह साधनसे उपरत हो जाता है किंतु यह उसकी मूर्खता है। मनमें उत्साह रखना चाहिये। धीरता, वीरता, गम्भीरता, निर्भयता आदि भाव उत्पन्न होने चाहिये। इनकी वृद्धि होनी चाहिये। यदि ये भाव नहीं हैं तो पुरुष ही नहीं है, मनुष्य ही नहीं है, उसमें मनुष्यताका अभाव है। ये सब ईश्वरकी शरण होनेपर अपने-आप आ जाते हैं। जब यह निश्चय हो जाता है कि भगवान् हैं और मेरे सुहृद् हैं, सब जगह हैं। हमारे हितैषी हैं, सबके परम हितैषी हैं—तब उसे परम शान्ति मिल जाती है—ऐसा भगवान् कहते हैं—

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥ (गीता ५। २९)

'भगवान् हेतुरहित दयालु, हेतुरहित प्रेमी हैं, वे हमारे हैं, हमारे परम हितैषी हैं, सदा हमारे पास रहते हैं।' जो इस प्रकारसे समझता है उसको भय कैसे सता सकता है, उसके पास भय आ ही नहीं सकता। छोटा बच्चा जब माँका आश्रय ले लेता है, माँकी गोदमें बैठ जाता है तब दूसरे बच्चोंसे नहीं डरता। न ही बिडाल या कुत्तेसे ही डरता है; क्योंकि वह माँकी गोदमें बैठा है। माँ सब प्रकारसे उसकी रक्षा करती है। माँ तो अपनी शक्तिके अनुसार ही उस बच्चेकी रक्षा करती है, परंतु भगवान् तो माँसे भी बढ़कर हैं। माँ सर्वशक्तिशाली नहीं है, पर भगवान् सब प्रकारसे समर्थ हैं। उस सामर्थ्यवान्‌की गोदमें बैठ

जाय तो निर्भयता अपने-आप ही आ जाय। पहले जब मनसे बैठने लग जायगा तब आगे जाकर प्रत्यक्ष भी बैठ सकता है। जबतक भगवान्‌की प्राप्ति नहीं होती, तबतक उसका दर्शन, स्पर्श, भाषण, वार्तालाप सब मानसिक ही होते हैं। भगवान्‌की शरण होकर, उनके भरोसेपर निर्भर होकर हमारे हृदयमें धीरता, वीरता, गम्भीरता, निर्भयताकी वृद्धि अवश्य होनी चाहिये। जिस मनुष्यमें ये गुण नहीं हैं वह अपनेको पुरुष कहे, पुरुषार्थी कहे, पौरुषवाला कहे तो उसकी गलती है। भगवान्‌का आश्रय लेकर जो पुरुषार्थ किया जाता है वह अवश्य सफल होता है। अतः हमको भगवान्‌का आश्रय लेकर प्रयत्न करना चाहिये।

संसारके किसी भी पदार्थका आश्रय लेना मूर्खता है, उसको आगे जाकर पश्चात्ताप करना पड़ता है; क्योंकि वह धोखेकी बात है। जैसे कोई ऐसा आश्रय ले ले कि मेरे पास बहुत रुपये हैं इनके ब्याजसे मेरा काम चल जायगा, मैं सब कुछ छोड़कर एकान्तमें जाकर भजन-ध्यान करूँ तो यह जो रुपयोंका आश्रय है वह मूर्खता है। किसी कारणसे वे रुपये नष्ट हो गये या उसे सरकारने ले लिया या हमारी सम्पत्तिको आग लग गयी या चोर-डाकू ले गये तो फिर उसके अभावमें हम बहुत दुःखी होकर मरेंगे; क्योंकि हमने मिथ्या वस्तुका आश्रय लिया। मिथ्या वस्तु रहनेवाली नहीं है, इस प्रकारका आश्रय लेना मूर्खता है। इसी प्रकारसे किसीने मकानका आश्रय ले लिया कि इसके भाड़ेसे मेरा काम चलेगा तो वह भी मूर्खता है। क्योंकि मकान भी जड वस्तु है, नाशवान् है, मिथ्या है, धोखा देनेवाली चीज है। इसी प्रकार किसीने किसी व्यक्तिका आसरा ले लिया और उसका तत्त्व समझा नहीं तो उसमें भी धोखेकी बात है। जैसे स्त्री अपने पतिका आश्रय ले लेती है, पुत्र अथवा शिष्य अपने माता-पिता या गुरुका आसरा ले लेता है, यह वास्तवमें युक्तिसंगत है। शास्त्रके अनुसार निष्कामभावसे है तब चिन्ताकी बात

नहीं है उसका उद्धार हो सकता है, इसलिये कि उसका वह साधन है। किंतु मूर्खतावश यदि किसीने ऐसा ही अपने मनमें किसीके लिये मान लिया; जैसे कोई दम्भी, पाखंडी आदमी है और समझ लिया कि इससे हमारा उद्धार हो जायगा तो उसका आश्रय कमजोर है, कच्चा है, उसको धोखा हो सकता है। आश्रय तो एक परमात्माका ही लेना चाहिये जिससे कभी धोखा नहीं हो सकता। आश्रय लेने योग्य तो परमात्मा ही हैं। शरण ग्रहण करनेके योग्य तो परमात्मा ही हैं, उनकी ही शरण लेनी चाहिये। परमात्माको छोड़कर संसारके जितने भी पदार्थ हैं किसीकी भी शरण नहीं लेनी चाहिये। बल्कि सिद्धान्त तो यह है कि धर्मका आश्रय नहीं लेना चाहिये बल्कि उसका पालन करना चाहिये। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि अर्जुन! सब धर्मोंका आश्रय छोड़कर तू केवल मेरी शरण आ जा—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। (गीता १८। ६६)

तात्पर्य यह कि निष्कामभावसे धर्मका पालन करना बहुत उत्तम है, किंतु उसके ऊपर निर्भर नहीं होना चाहिये। धर्मका पालन उसका आश्रय छोड़कर करना चाहिये—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥

(गीता ६। १)

कर्मोंके फलोंका आश्रय न करके जो कर्मोंका आचरण करता है वही योगी और संन्यासी है। न तो अग्निको त्यागनेवाला संन्यासी है और न क्रियाको त्यागनेवाला योगी संन्यासी है। कर्मोंके फल और आसक्तिका त्याग करके उसके आश्रयसे रहित होकर परमात्माके ध्यानमें नित्य रहना चाहिये **'त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गम्'** (गीता ४। २०)। जड वस्तुका आश्रय लेना धोखेकी चीज है। इसलिये जड वस्तुका

कभी आश्रय नहीं लेना चाहिये, इनका कभी भरोसा नहीं करना चाहिये। इसी प्रकार यदि कोई पुरुष यह आसरा ले ले कि मेरा लड़का मुझे खर्चा भेजता रहेगा और मैं वनमें एकान्तमें रहकर भजन-ध्यान करके अपना जीवन बिताऊँगा तो अपनी जीविकाके लिये—अपने शरीर-निर्वाहके लिये जो लड़केका आसरा है वह भी धोखेकी चीज है। आज वह रुपया भेजता है, कल वह मर गया तो कौन भेजेगा? झूठा आश्रय है। कल लड़केका मन बदल जाय तो जीते-जी भी नहीं भेजेगा, अतः आसरा तो एक भगवान्‌का लेना चाहिये। जड पदार्थोंका, व्यक्तियोंका या सांसारिक पदार्थोंका आसरा कभी नहीं लेना चाहिये। अपने शरीरके भरोसे भी नहीं रहना चाहिये कि मैं अपना रोजगार करके अपना पेट भर लूँगा। औरोंकी अपेक्षा यह बात ठीक है, किंतु तुम बीमार पड़ सकते हो, शरीरसे बेकार हो सकते हो, असक्त होकर जी सकते हो तो शरीरका आसरा लेना भी व्यर्थ है। प्रारब्धका आसरा भी कामकी चीज नहीं, क्योंकि प्रारब्ध अच्छा-बुरा मिला हुआ ही रहता है और उसका तत्त्व न समझनेके कारण मनुष्यमें आलस्य आ जाता है। अतः आसरा तो कभी भी किसीका नहीं लेना चाहिये। शरीर-निर्वाहके लिये कोई भगवान्‌का आसरा ले तो कोई दोषकी बात तो नहीं है, किंतु एक प्रकारसे मूर्खता है। आत्माके कल्याणके लिये, मुक्तिके लिये तो भगवान्‌का आसरा लेना कोई दोष नहीं है, अपितु ऊँचे दर्जेकी चीज है और इससे भी ऊँचे दर्जेकी चीज तो यह है कि आत्माके कल्याणके लिये भी आसरा नहीं लेना चाहिये, आत्माका कल्याण हो चाहे मत हो इसकी मनमें कोई इच्छा नहीं रखनी चाहिये, न कोई उद्देश्य रखना चाहिये, न इसकी कोई परवाह करनी चाहिये। ईश्वरकी भक्ति करना, उसकी शरण जाना जीवका कर्तव्य है; इसलिये उसकी शरण होना चाहिये, न कि मुक्तिके लिये। लड़केका कर्तव्य है

माता-पिताकी सेवा करना, मनुष्यका कर्तव्य है ईश्वरकी भक्ति करना, उसकी शरण जाना, किंतु मुक्तिके लिये नहीं। भगवान् चाहे हमें नरकमें डाल दें कोई परवाहकी बात नहीं, किंतु हमें अपने कर्तव्यसे नहीं चूकना चाहिये। हम अपने कर्तव्यका पालन करते रहें, भगवान् चाहे अपने कर्तव्यका पालन न करें। भगवान् भी अपने कर्तव्यका पालन करें, इसलिये हम अपने कर्तव्यका पालन करें यह ओछापन है। हम यदि निष्कामभावसे अपने कर्तव्यका पालन करते रहेंगे, उसका बदला नहीं चाहेंगे तो भगवान् कहेंगे कि यह मेरा भक्त मेरेसे भी बढ़कर है। यह कहता है कि मैं भगवान्का दास हूँ और मैं कहता हूँ कि ऐसे भक्तोंका मैं दास हूँ, जिनको मुक्तिकी परवाह नहीं, किसी भी चीजकी परवाह नहीं, निष्कामभावसे सेवा करते हैं ऐसे भक्तोंका तो मैं ऋणी हूँ। वाल्मीकि रामायणमें भगवान् श्रीरामने हनुमान्से कहा कि हनुमान्, मैं तुम्हारा ऋणी हूँ, तुमने मेरे बहुतसे कार्य किये हैं, मेरे सिरपर तुम्हारा ऋण है और मैं उस ऋणसे मुक्त भी नहीं होना चाहता, क्योंकि तुम्हारेपर कोई विपत्ति पड़े और तब मैं तुम्हारी मदद करूँ तब मैं तुम्हारेसे मुक्त होऊँ, ऐसा मैं नहीं चाहता। मैं तुम्हारे ऋणसे मुक्त होनेके लिये तुम्हारी विपत्ति देखना नहीं चाहता। यह भगवान्का निष्कामभाव है, किंतु हनुमान्जी कभी चाहते नहीं है कि भगवान् हमारे ऋणी रहें। यदि भक्त ऐसा मानने लगे तो उसकी भक्तिमें कमी है।

अतः इन बातोंको ध्यानमें रखकर हमको रुपयोंका दास होकर नहीं जीना चाहिये, ऐसे जीनेसे तो मरना अच्छा है। यह सुनकर आप कभी आत्महत्या मत कर लेना। कहनेका भाव यह है कि इस प्रकारका निष्कामभाव हृदयमें होना चाहिये कि निष्कामभावके बिना हमारा जीना हमारे लिये भार-रूप है। हमारा इस प्रकारसे सकामभावसे संसारमें जीना मरनेसे भी बुरा है यानी नीचे दर्जेका है, घृणा करनेकी चीज है। इसका

अभिप्राय यह है कि यह दोष हमारेसे दूर रहे। 'इससे मरना अच्छा' का यह अभिप्राय नहीं है कि ऐसे जी कर क्या करेंगे, आत्महत्या करके मर ही जायँ तो अच्छा है। यह मरनेके लिये कहना नहीं है, यह कहना इसीलिये है कि ऐसा जीना निन्दनीय है, अतः अपने जीवनको सफल बनाना चाहिये। उच्च कोटिका बनाना चाहिये। भगवान् कहते हैं—

मोर दास कहाइ नर आसा। करइ तौ कहहु कहा बिस्वासा।

(रा० च० मा० ७। ४५। ३)

यदि कोई मेरा दास कहलाकर दूसरे मनुष्योंकी आशा रखे तो आप बताइये उसको मेरेपर विश्वास कहाँ? जो भगवान्‌पर निर्भर हो जाता है वह न तो किसी मनुष्यकी परवाह करता है और न जड पदार्थोंकी, न मरनेकी परवाह करता है न जीनेकी। उसके लिये सब समान है। इन सारी बातोंको उसने प्रभुपर छोड़ रखा है। भगवान् उसे जिस प्रकार रखते हैं उसीमें उसे आनन्द प्रतीत होता है। ऐसा जीवन उत्तम जीवन है। अपने जीवनका आसरा, शरीर निर्वाहका आसरा किसी जड पदार्थको बनाना या किसी प्राणीको—अपने पुत्रको या अपने भाईको या और किसीको बनाना ही या किसी चीजका आश्रय लेना ही मूर्खता है। यदि यह विशेष बात समझमें नहीं आये तो उसका जीवन प्रारब्धपर है। प्रारब्धसे ही सब जीते हैं, अतः उसे प्रारब्धपर ही छोड़ देना चाहिये। किंतु प्रारब्धपर छोड़ देनेका अभिप्राय यह नहीं मानना चाहिये कि निकम्मा हो जाय। कमकस नहीं हो जाना चाहिये। उसका अभिप्राय कमकस बनानेमें नहीं है। यह बात फलके लिये है। जो ईश्वरका विधान है उसके लिये यह कहना है कि हमने जैसे कर्म किये थे, उसके अनुसार ईश्वरका विधान बना है और उसीके अनुसार सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय भुगतने पड़ रहे हैं। इतने अंशको तो प्रारब्धपर छोड़ देना चाहिये। नये जो कर्म करने हैं उनको प्रारब्धपर

नहीं छोड़ना चाहिये। भगवान् कहते हैं—हे अर्जुन! तेरा कर्म करनेमें अधिकार है, यह तेरा हक है, फलमें नहीं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। (गीता २। ४७)

तुमको अपना कर्तव्य समझकर कर्म करना चाहिये। तेरा कर्म करनेमें अधिकार है, कर्मके फलमें कभी अधिकार नहीं, अधिकार मानना अनधिकार चेष्टा है, अनधिकार चेष्टा करनेसे कोई लाभ भी नहीं, क्योंकि सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय आदिकी प्राप्ति और जीवन-मरण सब प्रारब्धपर निर्भर करते हैं। उस प्रारब्धका नाम ही ईश्वरका विधान है। ये सब चीजें ईश्वरके विधानपर छोड़ देनेपर कोई दोषकी बात नहीं है। अपने कर्तव्यके पालनके लिये हम किससे मदद लेवें? बिना लिये ही भगवान् मदद दे रहे हैं, महात्मा लोग दे रहे हैं, शास्त्र दे रहे हैं। तुमको यह समझ लेना चाहिये कि हमारे द्वारा जो कुछ अच्छा काम हो रहा है उसमें भगवान्‌का हाथ है, महापुरुषोंका हाथ है अर्थात् ये हमें हर प्रकारसे मदद देनेके लिये सदा ही तैयार रहते हैं। इनसे लाभ नहीं उठानेमें हमारे स्वभावका दोष है। वह हमारे लिये बाधक है। इसका सुधार करना चाहिये। हमारे स्वभावका सुधार क्या ईश्वरकी कृपा या महापुरुषोंकी कृपासे नहीं होगा? महापुरुषों और ईश्वरकी कृपासे तो होगा ही। हमें यह मानना चाहिये कि जो कुछ हमारेमें अच्छी बात है वह तो सब ईश्वरकी कृपासे होती है और उसकी कृपासे ही होगी। मैं तो इसमें निमित्त मात्र हूँ, ऐसा समझकर काम करना चाहिये। जैसे भगवान् गीतामें अर्जुनको कहते हैं कि हे अर्जुन! ये प्रतिपक्षी सेनाके योद्धा मेरे द्वारा मारे हुए हैं, तुम निमित्त मात्र बन जा—**'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्'**। इसी प्रकार हमको निमित्तमात्र बन जाना चाहिये। यदि अर्जुन वहाँ निमित्तमात्र नहीं बनता तो उसकी बड़ी भूल समझी जाती, किंतु वह बन गया। जिस तरह रथी अपने

सारथीके हाथमें अपने घोड़ोंकी बागडोर सौंप देता है, इसी तरह हम लोगोंको निमित्तमात्र बन जाना चाहिये और अपने मन-इन्द्रियोंकी सब बागडोर भगवान्‌को सौंप देनी चाहिये। अर्जुनने जैसे भगवान्‌को सारथी बनाया था, इसी प्रकार इस संसार-सागरसे पार होनेवाली यात्रामें हमें भगवान्‌को अपना सारथी बनाकर अपने इन्द्रियरूपी घोड़ोंकी बागडोर-मनकी बागडोर यानी मनकी वृत्तियोंकी बागडोर भगवान्‌के हाथमें सौंप देनी चाहिये। जैसा भगवान् कहें वैसा करना चाहिये। भगवान् श्रीकृष्ण युद्धके समय अर्जुनको जैसा कहते थे, वह वैसा ही करता था। दूसरे-दूसरे लोग जो कुछ कहते थे, उसकी तरफ़ ध्यान नहीं देता था। इसी तरह हम लोगोंको भी मन, बुद्धि, इन्द्रियोंकी बागडोर भगवान्‌के हाथमें सौंप देनी चाहिये। जैसे भगवान् चलावें वैसे चलना चाहिये। किये गये कार्यमें सफलता मिलनेपर भगवान्‌की सहायता समझनी चाहिये। भगवान्‌की मर्जीमें ही अपनी मर्जी मिला देनी चाहिये।

मनुष्य-जीवनकी सफलताका उपाय

प्रत्येक मनुष्यको मानव-जीवन पाकर अपनी आत्माका कल्याण अवश्य कर लेना चाहिये, यह दुर्लभ मानव-तन इसीलिये मिला है। यदि मनुष्य ऐसा नहीं करता तो शास्त्र उसे आत्महा कहता है—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा॥

(श्रीमद्भा० ११। २०। १७)

यह मनुष्य-शरीर समस्त शुभ फलोंकी प्राप्तिका मूल है और अत्यन्त दुर्लभ होनेपर भी अनायास सुलभ हो गया है। इस संसार-सागरसे पार जानेके लिये यह एक सुदृढ़ नौका है। शरण-ग्रहणमात्रसे ही गुरुदेव इसके केवट बनकर पतवारका संचालन करने लगते हैं और स्मरणमात्रसे ही मैं अनुकूल वायुके रूपमें इसे लक्ष्यकी ओर बढ़ाने लगता हूँ। इतनी सुविधा होनेपर भी जो इस शरीरके द्वारा संसार सागरसे पार नहीं जाता, वह तो अपने हाथों अपने आत्माका हनन—अधःपतन कर रहा है।

आत्माका कल्याण भगवन्नाम-स्मरणसे होता है। इसे प्रत्येक मानव चाहे गृहस्थ हो चाहे ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी हो या संन्यासी, ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य या शूद्र कोई हो सभी भगवन्नाम-स्मरणद्वारा आत्म-कल्याण कर सकते हैं। उससे सभीका कल्याण हो सकता है।

भगवान्‌ने कहा है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥ (गीता ८। १४)

हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ, अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।

आत्म-कल्याणका भाव संसारसे मुक्ति पानेसे है। मुक्ति प्राप्त करनेमें मनुष्यमात्रका अधिकार है।

जो लोग इस प्रकार कहते हैं कि मुक्ति किसी वर्ण-विशेष या आश्रम-विशेष अथवा देश-काल-विशेषमें ही होती है, उनकी बातें न कभी सुननी चाहिये, न माननी चाहिये। वे अपना सिद्धान्त अपने पास ही रखें। ऐसे झूठे बन्धनोंमें जकड़कर एवं सिद्धान्तोंको बनाकर वे अपना और मुक्तिका भी पतन करते हैं। इसलिये उन लोगोंके बन्धनमें नहीं आना चाहिये। ये सब झूठे बन्धन भगवान्‌के बनाये हुए नहीं हैं। ये तो कुछ लोगोंने स्वार्थरत होकर सिर्फ अपनी मान-प्रतिष्ठाके लिये बना दिये हैं। कुछ भी हो मुक्तिके लिये सभीका दायरा खुला है; फिर इस कलिकालमें तो भगवान्‌की उदारताकी सीमा ही नहीं है। इस प्रकारका मौका पाकर भी अगर हम लोग मुक्तिसे वंचित रह जाते हैं तो समझना चाहिये कि हमारा बड़ा भारी दुर्भाग्य है। किसी भी मनुष्यका कल्याण होना कठिन बात नहीं है बहुत ही साधारण-सी बात है। मुक्तिका होना हमने कठिन मान लिया है, यह केवल मात्र हम लोगोंके मनकी कमजोरी है, यह हानि करनेवाली बात है। इसलिये यह सिद्धान्त रखना चाहिये कि परमात्माकी प्राप्ति—मुक्तिकी प्राप्ति मनुष्यके लिये कोई कठिन काम नहीं है। मनुष्य चाहे जैसा भी हो—पापी-से-पापी एवं मूर्ख-से-मूर्ख क्यों न हो उसका उद्धार बहुत ही शीघ्र, शीघ्र-से-शीघ्र हो सकता है। हम लोगोंको रुपया कमानेमें जितना परिश्रम करना पड़ता है, भगवान्‌की प्राप्ति करनेमें उस प्रकार उतना परिश्रम नहीं करना पड़ता, एक पैसा भी खर्च नहीं करना पड़ता और समय

भी बहुत कम लगता है। भगवान्‌की प्राप्ति न होनेपर हम लोग जो अज्ञानवश ऐसा मान बैठते हैं कि हम लोगोंपर भगवान्‌की दया नहीं है, भगवान्‌का हमपर कोप है यह तो भगवान्‌पर कलंकका आरोप करना है।

भगवान्‌की हम लोगोंपर बड़ी भारी दया है, भगवान्‌की दयाकी तो कोई सीमा ही नहीं है। भगवान्‌की बड़ी भारी दयाका ही यह परिणाम है कि भगवान्‌ने हम लोगोंको इस प्रकारके देश-काल-स्थान एवं बुद्धि प्रदान की है। फिर भी यदि हम भगवान्‌को कलंक लगाते हैं, उनको कोसते हैं यह उचित नहीं है। इतनेपर भी भगवान् हम लोगोंकी बातोंपर ध्यान नहीं देते, क्योंकि वे समझते हैं कि ये सब नादान हैं। माता-पितापर संतानद्वारा लांछन लगानेपर तो माता-पिता संतानको निकाल सकते हैं या उसका त्याग कर सकते हैं, परंतु भगवान् हम लोगोंको न तो घरसे ही निकालेंगे और न हम लोगोंपर कृपा करनी ही त्यागेंगे।

महात्मा और भगवान् इन लोगोंका यही नियम है कि वे लोगोंसे, चाहे कोई कैसा ही हो, सम्बन्ध जोड़ना जानते हैं तोड़ना नहीं जानते। परंतु यदि कोई स्वयं उनसे सम्बन्ध तोड़ना चाहे तो वे क्या करें। साधु, धर्मराज और ईश्वर—ये तीनों ही उच्च कोटिके होते हैं ये कभी भी किसीका अनिष्ट नहीं चाहते, सबका हित ही चाहते हैं। बालक कितना ही कुपात्र क्यों न हो, परंतु माँ-बाप कभी कुपात्र नहीं होते। माँ-बापमें तो कभी-कभी स्वार्थ-बुद्धि हो जानेके कारण दोष पाया भी जा सकता है, परंतु इनमें ये बातें नहीं पायी जा सकतीं।

सबसे बढ़कर बात यह है कि सब परमात्माका ही स्वरूप है। ऐसा समझकर सदा आनन्दमें मुग्ध होना चाहिये। जो भी कुछ है वह सब भगवान्‌का ही स्वरूप है।

भगवान् कहते हैं—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(गीता ७। १९)

'बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त जो पुरुष, 'सब कुछ वासुदेव ही है'—इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।' इसलिये हम लोगोंको भी समझ लेना चाहिये कि यही हमारा अन्तिम जन्म है, इसके बाद हम लोगोंको और जन्म नहीं लेना पड़ेगा ऐसा विश्वास कर लेना चाहिये। विश्वास ही फलदायक होता है। इस प्रकारका विश्वास कर लेनेमें आप लोगोंका लगता ही क्या है? ऐसा विश्वास करनेपर हम लोगोंकी मुक्ति हो या न हो मान लेनेमें कोई नुकसान तो है ही नहीं।

एक पुरानी बात है। हम लोगोंके देश मारवाड़में राजपूत लोग थे। उन लोगोंको फतेहपुरके नवाबने अपने पास बुलाया और उनसे कहा कि तुम सब लोग मुसलमान बन जाओ। उन लोगोंने मुसलमान बननेसे इनकार कर दिया। तब नवाबने राजपूतोंसे कहा—'यदि तुम लोग मुसलमान होना नहीं चाहते हो तो मत बनो, परंतु मर्दुमशुमारी (जन-गणना)-में तुम मुसलमानोंके साथ अपना नाम लिखवा दो। इतनी बात तुम हमारी मान लो। तुम लोगोंका जो धर्म है उसका तुम लोग उसी प्रकार पालन करो, उसमें किसी प्रकारकी रोक-टोक नहीं होगी।' वे बेचारे समझे कि मुसलमानोंकी लिस्टमें नाम लिखवा देनेमें हम लोगोंको आपत्ति ही क्या है? हम लोग राजपूत हिंदू-धर्मका पालन करेंगे। उन लोगोंने नवाबकी बात मान ली और अपना नाम मुसलमानोंकी लिस्टमें रखवा दिया। वे अपने धर्मका पालन भी करते रहे। अन्तमें कट्टर मुसलमान बन गये जो आज 'क्यामखानी' नामसे प्रसिद्ध हैं। थोड़े दिनोंतक विवाह-शादी आदि तो अपनी परम्पराके

अनुसार चले, बादमें वह भी धीरे-धीरे बंद होकर सब काम चौपट हो गया। मान लेनेका यह नतीजा है।

ऐसी ही बात गङ्गाजीकी शरणमें जानेकी है। गङ्गाजीकी शरणमें जानेपर बहुत शीघ्र उद्धार हो जाता है। गङ्गाजीमें स्नान करनेसे पापोंका नाश हो जाता है और मुक्ति हो जाती है ऐसा माना जाता है। हम लोग गङ्गाजीमें स्नान करते हैं, गङ्गाजल-पान करते ही हैं इस बातमें तो कोई कमी है नहीं, कमी है केवल न माननेकी। यदि मान लें कि गङ्गा-स्नानसे मुक्ति हो जाती है तो निश्चय ही मुक्ति हो सकती है।

परमात्माको प्राप्त करनेके लिये दो प्रकारके साधन बतलाये गये—

पहला साधन है संसारमें सब लोगोंमें परमात्माका स्वरूप समझना और दूसरा साधन है इसी जन्मको अन्तिम जन्म समझ लेना।

८४ लाख योनियोंके बाद जो यह मनुष्य-शरीर हमें मिला है इसे ही आखिरी जन्म समझना चाहिये। इस मनुष्य-जन्मको पाकर भी यदि हम लोगोंका कल्याण नहीं हुआ तो बड़े शर्मकी बात है। हम लोग यदि मनुष्य-जन्मके योग्य नहीं होते तो भगवान् हम लोगोंको मनुष्य-जन्म क्यों देते? भगवान् चाहते तो हम लोगोंको बंदर, गधा, कुत्ता, तिर्यक्—किसी भी योनिमें जन्म दे सकते थे। उन्हें हम लोगोंको जन्म देनेमें स्वतन्त्रता थी। भगवान् हम लोगोंको जैसा शरीर देते, उसमें हम लोगोंको क्या कोई एतराज होता? भगवान्ने अपनी इच्छासे हम लोगोंको जो भी जन्म दिया वह हम लोग बन गये। यदि जन्म लेनेमें सबकी इच्छा अथवा स्वतन्त्रता होती तो फिर सभी लोग मनुष्य-जन्म ही लेना पसंद करते। भले ही मनुष्य-जन्म लेकर भूखों ही मरना पड़ता; यह गधा, कुत्ता आदिकी योनिको तो कोई भी पसंद नहीं करता।

८४ लाख योनियोंमें केवल मनुष्य-शरीरसे ही भगवान्की प्राप्ति हो सकती है। इसलिये यह मनुष्य-शरीर ही सब जन्मोंका अन्तिम जन्म

है। 'यह मनुष्य-जन्म ही आगेके बहुतसे जन्मोंका अन्त करनेवाला है'—ऐसा विश्वास कर लेना चाहिये। मान लेनेपर कल्याण हो सकता है, इसमें किसी प्रकारकी शंका नहीं होनी चाहिये।

जो कुछ हो रहा है सब भगवान्‌की लीला हो रही है। आप लोग सिनेमा-थियेटर नाटक आदिमें जाकर, जो लीला देखा करते हैं, वह लीला तो मनुष्योंकी बनायी गयी बनावटी लीला है। परंतु यह सब जो कुछ भगवान्‌की इच्छासे हो रहा है यह मनुष्यकी बनायी हुई लीला नहीं है। यह सब भगवान्‌की लीला है, इसको असली लीला समझकर आनन्द-मग्न होना चाहिये। इस प्रकारका भाव होनेपर हम लोगोंमें राग-द्वेषका अभाव हो जायगा और राग-द्वेष न रहनेपर काम एवं क्रोधका अपने-आप ही नाश हो जायगा। क्योंकि राग-द्वेषसे ही काम और क्रोधकी उत्पत्ति होती है। इसलिये सबको भगवान्‌की लीला समझ लेनेपर राग-द्वेषका अभाव होकर उनसे काम एवं क्रोधका नाश होता है इतनी-सी ही बात नहीं है बल्कि इसके नाश होनेके साथ-साथ हम लोगोंके मनमें जो ईर्ष्या, भय, वैर आदि होते हैं उनकी भी साथ-ही-साथ समाप्ति हो जाती है। इसलिये यह जो कुछ भी चेष्टा होती है सब भगवान्‌की ही लीला है, ऐसा मानना और भाव रखना बहुत ही दामी चीज है। इसके अतिरिक्त यदि आपने मान लिया कि यह सब भगवान्‌की लीला हो रही है तो ऐसा मान लेनेपर आप लोगोंको इस प्रकारकी सुख-शान्ति एवं आनन्दकी प्राप्ति होगी जो आजतक आप लोगोंको निश्चय ही जन्म भरमें नहीं मिली है। हम आपसे निश्चित रूपसे कह सकते हैं कि इस प्रकार सबमें सब प्रकारकी चेष्टाको भगवान्‌की लीला समझ लेनेपर आप लोगोंको वह शान्ति मिलेगी जो आजतक नहीं मिली है। यह शान्ति तबतक मिलती रहेगी जबतक आप सब चेष्टाओंको भगवान्‌की लीला मानते रहेंगे। इस प्रकार ये तीन बातें हो गयीं—

१-यह जो कुछ भी है सो परमात्माका स्वरूप है।

२-यह मनुष्य-जन्म सब जन्मोंका अन्तिम जन्म है। इस जन्मके बाद हम लोगोंको दूसरा जन्म नहीं लेना पड़ेगा। यह मानव-शरीर हम लोगोंको भगवान्‌की दयासे मिला है। जब भगवान्‌की ही हम लोगोंपर इतनी भारी दया है, क्या तब भी हमारा कल्याण होनेमें किसी प्रकारका संदेह है? ऐसा कभी नहीं मानना चाहिये।

३-'जो कुछ भी चेष्टाएँ हो रही हैं सब भगवान्‌की लीला हो रही है'—ऐसा समझकर आप लोग लीला देखते रहें।

—इस प्रकार ये तीन बातें केवल माननेसे कल्याण कर देनेवाली हैं।

अब तीन बातें ऐसी हैं जिन्हें मानकर करना चाहिये। इसमें परिश्रम बहुत थोड़ा है परंतु लाभ अधिक है। बहुत कम परिश्रम होनेके साथ-साथ उसमें लाभका कोई ठिकाना नहीं है।

आपके घर या बाहर जो कोई भी आपसे बड़ा हो, किसी प्रकारसे भी—अवस्था, ज्ञान, आचरण, पद, वर्ण और आश्रम या किसी भी प्रकारसे बड़ा हो उनको प्रातःकाल उठनेके बाद और स्नान करनेके अनन्तर नम्रतापूर्वक उनके पास जाकर नमस्कार कर लेना चाहिये। यह सब एक मिनिटका काम है। कोई कठिन काम नहीं है बस नमस्कार ही तो करना है, इसमें क्या परिश्रम लगता है। अपनेसे बड़ोंको नित्यप्रति निष्कामभावसे नमस्कार करनेसे अहंकारका नाश होता है। अहंकारका नाश होनेके साथ परस्परमें जो घरमें लड़ाई-झगड़ा एवं वैमनस्य आदि रहता है वह भी शान्त हो जाता है। क्योंकि इस परिपाटीसे प्रायः एक-दूसरेकी लड़ाई मिट जाती है, खुन्नस मिट जाती है। नमस्कार करना क्षमा करनेका एक माध्यम हो जाता है। जब आप नित्य ही नमस्कार करेंगे तब आपसे किसी प्रकार अपराध नहीं होगा। जब अपराध ही नहीं होगा तब क्षमा करनेका तो कोई सवाल ही पैदा

नहीं होता। इस प्रकार नित्य नमस्कार करनेसे आप लोगोंसे भूल नहीं होगी और घरमें लड़ाई-झगड़े नहीं होंगे। ये सब घरसे विदा हो जायँगे। अगर आप पूज्योंको साष्टाङ्ग नमस्कार करेंगे, तब बड़ोंके आशीर्वादके कारण आपके आयु, विद्या, कीर्ति और बलकी वृद्धि होगी। यह आप लोग प्रत्यक्ष देखते होंगे कि इस प्रकारसे प्रणाम—नमस्कार करनेवालेके लिये हम लोग क्या कहते हैं? यह लड़का बड़ा अच्छा है, बड़ा ही विनयी एवं बड़ा सुशील है और बड़े ही सुन्दर स्वभावका है, अपने माँ, बाप, गुरुजनों एवं बड़ोंको नित्य नमस्कार करता है। इस प्रकार नमस्कार करनेसे प्रत्यक्षमें यशकी प्राप्ति होती है। नमस्कार करनेसे माता-पिता, गुरुजनोंको संतोष होता है जिससे वे आशीर्वाद देते हैं जिसके फलस्वरूप आयु-विद्या, यश एवं बलकी वृद्धि होती है। नमस्कार करना धर्मका एक खास अंग है। भगवान् भी स्पष्ट कहते हैं—**'देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनम्'**। (गीता १७। १४) देवता, ब्राह्मण, गुरु एवं प्राज्ञ—इनका पूजन करना, नमस्कार करना, सेवा करना कितनी उच्च कोटिकी चीज है। लोगोंको अपनेसे पूज्योंको नमस्कार करनेमें जो व्यर्थमें पाप, भय, शंका-संकोच होता है इनको मनसे सर्वथा हटा देना चाहिये। पूज्योंको प्रणाम करनेमें हम लोगोंको जो लज्जा-संकोच—शर्म-सी प्रतीत होती है वह नरकमें डालनेवाली है। इसलिये इस शर्मको आग लगा देनी चाहिये। अच्छे कामोंको करनेमें कभी भूलकर भी संकोच-शर्म नहीं करना चाहिये। शर्म तो झूठ-कपट-चोरी-व्यभिचार करनेमें तथा मांस-मदिराके सेवनमें और दंभ-पाखण्ड—इन सब अवगुणों-दुर्गुणों-दुराचारोंके आचरण करनेमें करनी चाहिये। ये सब शर्म करनेके स्थान हैं। श्रेष्ठ कामोंमें—पूज्योंको नमस्कार करने आदिमें तथा कल्याण करनेवाले अन्य कार्योंमें शर्म करना नरकमें डालनेवाला है। जैसे उत्तम कर्म करने—गायत्री-जप एवं संध्या करनेकी इच्छा तो

होती है परंतु संकोच-शर्म लगती है कि देखनेवाले क्या कहेंगे? इसी प्रकार दुःखी-दीन-अनाथोंकी सेवा करनेमें भी शर्म लगा करती है, बड़ोंको नमस्कार करनेमें भी शर्म लगती है। अच्छे कामोंमें शर्म लगनेसे अच्छे कामोंके करनेमें व्यवधान पड़ जाता है, जो कल्याण करनेमें आफत बनकर नरकमें ले जानेका कार्य करती है। इसे त्याग देना चाहिये।

किसीसे भी जब आपकी भेंट हो तब उससे हँसकर बोलना चाहिये। उनसे बातचीत करते समय उनको संतोष करानेकी चेष्टा करनी चाहिये। यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसमें भी किसी प्रकारका परिश्रम नहीं है।

जिस कामको करनेसे किसीकी आत्माको दुःख पहुँचे उस कामको कभी नहीं करना चाहिये। इसमें भी कोई परिश्रम नहीं है। इससे तो परिश्रम करनेका ही त्याग हो जाता है। उस कामके करनेमें जो परिश्रम करना पड़ता, वह नहीं करना पड़ा और समयकी भी बचत हो गयी।

इसी प्रकार जितने सांसारिक भोग पदार्थ हैं उन सभी सांसारिक भोगोंका त्याग कर डालना चाहिये। उनका त्याग करनेमें भी किसी प्रकारका परिश्रम नहीं है, बल्कि उसमें भी परिश्रमका त्याग ही है। वस्तुतः भोगोंको भोगनेमें ही परिश्रमका काम है उनको त्याग देनेमें किसी प्रकारके परिश्रमका काम नहीं है। भोगोंको भोगनेमें ही—करनेमें ही परिश्रम है। यदि आप कोई भी काम करते हैं और छोड़ दें तो आपका परिश्रम-मेहनतका काम खतम हुआ या बढ़ा? परिश्रम तो सोलहों आने खत्म हो गया, क्योंकि संसारके जितने भी प्रकारके भोगके साधन हैं, उनकी सिद्धि बिना आशा किये नहीं हो सकती। आशामें परिश्रम एवं उसके साथ-साथ छल-कपट आदि पाप-कर्म भी करने पड़ते हैं।

भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा कि अर्जुन! संसारके सभी आरम्भ अर्थात् क्रिया आगमें धूएँकी तरह दोषसे परिपूर्ण हैं, पापसे परिपूर्ण हैं—

सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥ (गीता १८। ४८)

—इसलिये इन सब प्रकारके कार्योंका त्याग करनेके साथ ही परिश्रम घटनेके साथ-साथ ही उन कर्मोंसे होनेवाले पाप-कर्म भी घट जाते हैं। साधु लोगोंको संन्यासाश्रममें यह आदेश दिया जाता है कि उन्हें सभी प्रारम्भोंका स्वरूपतः त्याग कर देना चाहिये। तात्पर्य यह कि सभी प्रारम्भोंका बाहर और भीतरसे त्याग कर देना चाहिये। यदि कोई भीतरसे उनका त्याग करके बाहरसे उन्हें करते भी हैं तो भी उसे अन्तमें त्यागनेमें तकलीफ नहीं होगी, परंतु यदि मनसे त्याग नहीं किया है और बाहरसे दिखाऊ त्याग किया है तो उसमें तो कठिनता ही है। इसलिये बाहर एवं भीतरसे कर्मोंका त्याग कर देना ही वास्तवमें उच्च कोटिका त्याग है। गृहस्थाश्रमके लिये बाहरी कर्मोंका त्याग करना शास्त्रसम्मत नहीं है। बाहर एवं भीतरके कर्मोंका त्याग तो साधुओंके लिये बतलाया गया है। साधुके लिये बतलाया गया है कि उसे कैसा बनना चाहिये।

साधुको नेत्रोंसे अंधेकी तरह, कानोंसे बहरेकी तरह, हाथोंसे लूलेकी तरह, पैरोंसे पंगुकी तरह, वाणीसे गूँगेकी तरह होना चाहिये। इसका मतलब यह है कि साधुओंके लिये सभी आरम्भोंका त्याग करनेकी बात कही गयी है। कानसे बहरेकी तरह बननेका भाव है कि साधुको भगवत्-चर्चाके सिवाय और कोई दूसरी बात सुननी ही नहीं चाहिये। दुनिया चाहे जो कुछ भी कहती रहे।

श्रीजडभरतजी महाराज अपने पूर्वजन्मकी बातें जानते थे। वे गृहस्थाश्रममें रहते हुए, परिश्रम करते हुए भी उन सब कर्मोंसे वस्तुतः इतने उपराम थे कि जडकी तरह हो गये थे। इसलिये उनका नाम

जडभरत हो गया। उनके सभी आचरण उपराम-जड़की तरह होते थे। घरवालोंने जडभरतको विद्या पढ़ानेकी कोशिश की। उनसे कहा जाता कि बोलो 'क ख ग घ ङ' तो उनके कहनेसे वे भी बोल देते 'क ख ग घ ङ'। दूसरे दिन जब पढ़ाईका क्रम आगे बढ़ानेकी बात आती तब पूछा जाता कि क्या कलका पाठ याद हुआ? जडभरत चुप रहते। फिर पूछा जाता क्या कलकी बात—कलका पाठ सब भूल गये? इसी प्रकार प्रतिदिन पढ़ाते 'क ख ग घ ङ' और प्रतिदिन पिछला पाठ पूछते, परंतु सब सफाचट। घरवालोंने समझ लिया कि जब इतना अधिक परिश्रम करनेके बाद भी यह पूरी वर्णमाला नहीं सीख सका तब यह क्या पढ़ेगा? घरवालोंने तंग आकर जडभरतको पढ़ानेकी चेष्टा ही छोड़ दी। घरवालोंने सोचा कि यह पढ़ाई-लिखाई तो करेगा ही नहीं अब इससे खेतीका काम करवाना चाहिये। जडभरत खेतमें जाते और खेतमें ही बैठे रहते। उन्हें किसीसे कुछ सम्बन्ध नहीं, जडभरत जो ठहरे। जडभरतकी स्थिति देख घरवालोंने कहा कि अगर तुमसे और कुछ नहीं हो सकता तो खेतमें ही रहा करो और वहाँ जो अपने खेतमें गाय-भैंस आदि पशु चरने आवें तो उन्हें लाठी लेकर अपने खेतमेंसे निकालकर किसी दूसरेके खेतमें खदेड़ दिया करो।

एक ओर जडभरतका खेत था और उसकी बगलमें दूसरोंका खेत। पशु आदि जब चरने आते तो जडभरत उनको दूसरेके खेतमें न खदेड़कर अपने ही खेतकी ओर खदेड़ दिया करते। दूसरे दिन घरवालोंने जाकर देखा कि अपने खेतमें गाय-भैंस इकट्ठे हैं और सारा खेत साफ कर रहे हैं। घरवालोंने जडभरतसे कहा कि तुमसे कहा गया था चरनेके लिये आनेवाले पशुओंको दूसरेके खेतमें कर देना, इन्हें अपने खेतमें क्यों घुसा रखा है? जडभरतने कहा कि 'आपने यह कहा था कि यह हाथमें लाठी रखो और पशुओंको खदेड़ दिया करो', मैंने पशुओंको खदेड़ दिया। तब

घरवालोंने कहा कि 'मूर्ख, यह तो अपना खेत है, तुमको दूसरेके खेतमें खदेड़नेके लिये कहा गया था।' यह सुनकर जडभरत हँसने लगते और घरवालोंसे पूछते कि 'अपना और दूसरेका क्या चीज होती है?' घरवालोंने जडभरतसे कहा—मूर्ख, तुमको इतना भी ज्ञान नहीं है कि यह अपना खेत है और यह दूसरेका—परायेका। [इस प्रकारके ज्ञानमें ही तो खराबी थी।] तब घरवालोंने जडभरतसे खेतका काम भी छुड़ा दिया। इसके बाद घरवालोंने जडभरतको आदेश दिया कि तुम खेतमें क्यारी बनाओ। जडभरतने कहा—क्यारी क्या? घरवालोंने कहा—मूर्ख, क्या तुम क्यारी नहीं समझते। देखो, वह सामने जो ऊँची-सी जगह है, उसे फावड़ा लेकर खोदकर उसे गढ़ेमें डालो और उसे चारों तरफसे बराबर करो। दो-चार परात मिट्टी उठाकर उसकी क्यारी बनाकर बतलाया कि इस प्रकारसे क्यारी बनती है। जडभरतके 'ठीक है'—कहनेपर घरवाले जडभरतको क्यारी बनानेकी शिक्षा देकर चले गये। पीछेसे जडभरतने एक जगहसे मिट्टी खोदकर दूसरी जगह क्यारी नहीं बनाकर उसे खूब ऊँचा कर दिया। दूसरा काम बढ़ा दिया। दूसरे दिन घरवाले खेतमें आये और जडभरतका काम देखे तो बोले—रे मूर्ख, तुमने यह क्या कर दिया। तुमको तो क्यारी बनानेके लिये कहा गया था। क्या क्यारी इस प्रकार बनती है? जब इस जगहपर मिट्टी पड़नेके बाद समतल हो चुकी तब तुमको मिट्टी डालनेका काम बंद कर देना चाहिये था। ऐसा करके तो तुमने दूना काम बढ़ा दिया। इसे अब समतल कौन करेगा। समझा नहीं, मूर्ख कहींका। [इस बातको समझे कौन! किसीको समझना हो तो समझे, न समझनेवालेको समझना ही नहीं है।] आखिर घरवालोंने तंग आकर कह दिया कि तुम किसी भी प्रकारका काम करने लायक नहीं हो। अब कोई भी काम मत करो, केवल बैठे रहो। जडभरत ने कहा—बहुत ठीक। वे खेतमें बैठे रहते और उनको चाहिये ही क्या, खूब परमात्माका

ध्यान करते और ध्यानमें मग्न रहा करते। आठ पहरोंमेंसे कभी एक पहर घरमें आ जाया करते और घरवाले उसे भोजन करा दिया करते।

एक दिनकी बात है, जड़भरतको ध्यानावस्थामें कुछ विलम्ब हो गया और वे भोजनके लिये घरपर देरीसे पहुँचे। उनकी भाभीने देखा कि सुंडमसुंड-मोटा-तगड़ा जडभरत सामने खड़ा है। जडभरतके घरपर आनेमें देर होनेपर उनकी भाभीने उनके भोजनका खयाल छोड़ दिया था, पर जब उन्होंने देखा कि जडभरत सामने है तब बचा हुआ जूठा भोजन जो खानेसे बचनेपर रख छोड़ा था लाकर जडभरतकी थालीमें उसमेंसे आधा परोस दिया। जडभरतने खूब प्रेमसे प्रसाद पा लिया। उनकी भाभी भी मन-ही-मन सोचने लगी कि यह भी कोई पशु ही है जो इस प्रकारका भी भोजन नहीं छोड़ता। इसके बाद जडभरतके भोजन कर लेनेपर जो थोड़ा भोजन बच गया था, उसे नादमें डाल दिया, जिससे अमृतके समान सुगंध आने लगी। जडभरतका भाई जब घर आया और उसे भी वह सुगंध मालूम होने लगी तब उसने अपनी स्त्रीसे पूछा कि क्या बात है, आज यह सुगंध कैसी आ रही है? उसकी स्त्रीने कहा कि यह सुगंध चावलोंमेंसे ही आ रही है। फिर स्त्रीसे पूछा—चावल किसने बनाये थे। स्त्रीने कहा कि चावल तो मैंने ही बनाये थे, पर पता नहीं क्यों आज चावल बहुत ही स्वादिष्ट बने हैं? पतिने कहा—ऐसे ही स्वादिष्ट चावल रोज बनाया करो। स्त्रीने सोचा क्या हरज है, मैं तो इस प्रकारके चावल बनानेकी विधि सीख ही गयी हूँ। इस प्रकारके चावल बनानेमें क्या कठिनाई है? उसने दूसरे दिन सब चावलोंको नादमें डाल दिया और पकानेके लिये उसमेंसे निकालकर पकाया। आधे घंटेके बाद उसे थालीमें परसकर अपने पतिके खानेके लिये लायी। पतिने चावल खाते ही कहा इन चावलोंमेंसे तो अजीब-सी दुर्गन्ध आ रही है। इसमें तो किसी प्रकारका स्वाद ही

नहीं है। जैसे चावल रोज बनते हैं उनसे भी खराब है, कलका-सा स्वाद तो है ही नहीं। उनकी स्त्रीने कहा—मैंने तो ये चावल जैसे कल बनाये थे वैसे ही आज भी बनाये। न मालूम क्यों कल स्वादिष्ट बन गये और आज क्यों नहीं बने। [उनको क्या मालूम कि इन चावलोंको स्वादिष्ट बनानेवाला कौन है। श्रद्धा तो थी नहीं।] इस प्रकार जडभरत ममता-अहंता-रागरहित होकर विचरण किया करते थे।

साधुको कानोंसे बहरेकी तरह रहना चाहिये, इसका तात्पर्य है कि कानोंसे केवल मात्र परमात्म-विषयक बातोंका ही श्रवण करना चाहिये और दूसरी संसार-विषयक बातें सुने ही नहीं।

साधुओंको नेत्रोंसे अंधेकी तरह व्यवहार करनेका तात्पर्य है कि जब रातमें चले, तब नेत्रोंसे केवल थोड़े दूर तकका रास्ता देख लेना चाहिये और फिजूल इधर-उधर नहीं देखना चाहिये। नेत्रोंसे केवल महापुरुषोंका दर्शन करना चाहिये एवं मन्दिरोंमें जाकर देवतादिके दर्शन तथा सत्-शास्त्रोंका ही अध्ययन करना चाहिये। इसके अतिरिक्त नेत्रोंको अन्य प्रकारका परिश्रम नहीं देना चाहिये।

हाथोंसे लूलेकी तरह व्यवहार करनेका तात्पर्य है कि हाथोंसे केवल परोपकार एवं भगवान्‌की सेवा करे, इसके सिवाय और अन्य प्रकारका परिश्रम करनेकी आवश्यकता नहीं है।

पैरोंसे लँगड़ेकी तरह व्यवहार करनेका तात्पर्य है कि केवल महापुरुषकी सत्संगतिमें जाय तथा तीर्थादि देव-मन्दिरोंके दर्शनादि करने जाय, पैरोंसे बेकार परिश्रम न करे।

वाणीसे गूँगेकी तरह व्यवहार करनेका तात्पर्य है कि वाणीसे भगवत्-विषयक वार्ता ही करनी चाहिये। इसके सिवाय दूसरी बातें करनी ही नहीं चाहिये।

अब यह पूछा जाता है कि जिस प्रकार प्राचीन कालमें साधु-

महात्माओं एवं संन्यासियोंके लिये इस प्रकारकी शिक्षा दी जाती थी, वैसे यदि अब सारी कर्मेन्द्रियोंसे केवल भगवान्‌के ही निमित्त काम किये जायँ तो फिर मनुष्यको भोजन कहाँसे मिले? शरीर-निर्वाह किस तरह हो?

इसके लिये बतलाया गया है कि अजगर-वृत्तिसे काम चलाना चाहिये। जैसे अजगरको अपने स्थानपर ही जो कुछ मिल जाता है वह उसीसे काम चलाता है, उसी प्रकार साधु-संन्यासियोंको भी अपने स्थानपर जो कुछ मिल जाय, उसीसे काम चला लेना चाहिये। फिर भी पूछा जाता है कि इस प्रकार अगर अपने स्थानपर भोजन प्राप्त न हो तो फिर किस प्रकारसे निर्वाह करना चाहिये? तो खयाल करना चाहिये कि 'भोजन कैसे मिलेगा' यह चिन्ता तो आपको अभी लगी है, पहले तो नहीं थी न? जब आप अपनी माताके पेटमें थे, उस समय क्या आपको पेटकी चिन्ता थी? उस समय आपके पास भोजन कौन पहुँचाता था? जब आप पैदा हुए थे तब आपकी माताके स्तनोंमें भी दूधका इंतजाम किसने किया था? आपने अगर यह सब इंतजाम कभी भी नहीं किया तो जिसने यह सब इंतजाम किया था अब भी आपको उसीके ऊपर भरोसा रखना चाहिये। क्योंकि उसका नाम विश्वम्भर है। आप जरा विचार करके देखें—जो जलचर-थलचर पशु-पक्षी एवं कीट-पतंग हैं, उनके भी किसी प्रकारकी खेती-दूकान-व्यवसाय-दलाली या अन्य किसी प्रकारका रोजगार है क्या? ये भी जीवित रहते हैं या नहीं? इसी प्रकार अपने जीवनको प्रारब्ध—भगवान्‌के अधीन छोड़ देना चाहिये। जब भगवान् विश्वम्भर सबका पालन-पोषण स्वयं करते हैं तब किसी प्रकारकी चिन्ता करनी ही नहीं चाहिये। इस प्रकारकी चिन्ता भीतरसे त्याग देनी चाहिये।

वीरताका रहस्य

प्रत्येक व्यक्तिको कंचन-कामिनीके त्यागमें तथा अपने प्राणोंके त्यागमें वीर बनना चाहिये। कामिनीके त्यागमें अर्जुनकी भाँति वीर बनना चाहिये। यदि कोई भाई आपको अपना सर्वस्व सौंप रहा हो जो आपकी कमाईका नहीं है और दूसरा आदमी रुपया देकर उत्तराधिकारी बना रहा हो और आप उसे स्वीकार न करें तो यह वीरता है। बिना हकका रुपया तो ले ही नहीं, बल्कि यदि हकका रुपया हो तो भी त्याग कर दे, ऐसा करनेवाला वीर है। मान लो अपनी ही कमाईका रुपया है, पर टैक्स बचाते हैं तो वह बिना हकका है। इसलिये उसका भी वीरताके साथ त्याग कर देना चाहिये।

मान लें इस समय लोगोंको तकलीफ हो रही है और अपने पास लाखों रुपये हैं, उन लोगोंकी मदद करना न करना तो अपनी मरजीकी बात है, लेकिन ऐसी जगह जो दूसरोंके सुखके लिये उसका त्याग कर दे वही वीर है। लोभके त्यागमें भी वह वीर है या यों कहो कि वह कंचनके त्यागमें वीर है।

यमराज भाँति-भाँतिके प्रलोभन दे रहे हैं पर नचिकेता उसे स्वीकार नहीं करते, अतः नचिकेता वीर हैं। इसी प्रकार रन्तिदेव अपने लिये बचे हुए मात्र एक गिलास जलको भी स्वयं ग्रहण न कर दूसरेको दे देते हैं, अतः वे दानवीर हैं। अतिथि-सेवाके विषयमें महाभारतमें[1] एक ब्राह्मण और नेवलेकी कथा आती है। वह ब्राह्मण भी दानवीर है। वहाँ

१-स्त्री, पुत्र और पुत्र-वधूके साथ कुरुक्षेत्र-निवासी उञ्छवृत्तिधारी एक ब्राह्मणने एक बार पड़े हुए भयंकर अकालके समय कई दिनोंके बाद मिले जौके सत्तूका एक अतिथिको दान

प्राणोंका भी त्याग है। उसमें प्राण-त्यागकी वीरता भी है। घोर संकट प्राप्त है, पर प्राणोंकी परवाह नहीं। धर्म नहीं जाना चाहिये, प्राण भले ही चले जायँ। इस प्रकारकी वीरता ही वीरता है। गुरु गोविन्दसिंहके लड़कोंसे तलवारके बलपर धर्मका त्याग करवानेकी चेष्टा की जाती है; पर वे धर्मका त्याग नहीं करते, बल्कि हँसते-हँसते प्राणोंका त्याग कर देते हैं। अतः वे धर्मवीर हैं। इसी प्रकार हमें कामिनी-कांचन-त्यागमें वीर तथा दानवीर बनना चाहिये।

तलवारकी धारसे जूझकर मरनेकी अपेक्षा भी यह वीरता ऊँचे दर्जेकी है। तलवारसे जूझकर मरनेवाले तो बहुत पुरुष होते हैं, किंतु इस प्रकारके वीर पुरुष कम ही मिलते हैं।

कामिनी-त्यागमें अर्जुनका उदाहरण, दानवीरके रूपमें रन्तिदेव आदिका उदाहरण और धर्मवीरका उदाहरण गुरुगोविन्दसिंहके लड़कोंका अनुकरणीय है। इस प्रकारकी वीरता हममें भी होनी चाहिये।

जिस जगह गोला-बारूद बरसे, वहाँ भी जो मनुष्य धर्मका त्याग न करे वह वीर है। किसी भी अवस्थामें जो धर्मका त्याग नहीं करे, वह वीर है। धर्मके लिये भारी संकटका सामना करना, उसका आघात सह लेना वीरता है—

कर्म-वीर सोइ सूरमा लोट-पोट हो जाय।
ओट कछू राखै नहीं चोट मूँह पर खाय॥

किया। अतिथि सत्तू-प्रसाद लेनेके बाद जब हाथ-मुँह धोया, तब उसके हाथ-लगे सत्तूके कुछ कण जलके साथ नीचे गिर गये। उसी सत्तू-कणके पंकमें अचानक एक नेवला कहींसे आकर लोटने लगा, जिससे उसकी आधी देह सोनेकी हो गयी, शेष आधी देह सोनेकी बनानेकी लालसामें वह महाराज युधिष्ठिरके यज्ञमें उनकी कीर्ति-गाथा सुनकर गया और अतिथियोंके स्वागत—भोजनादि क्रियाओंमें गिरे जलसे बने कीचड़में लोटनेपर भी जब आधी देह सोनेकी न हो सकी तब उसने ब्राह्मणके सत्तू-दानकी प्रशंसा करके युधिष्ठिरकी कीर्तिगाथाको नहींके बराबर समझा।

धर्मवीर व्यक्ति दु:ख-पर-दु:ख पड़नेपर भी किसी भी अवस्थामें किसी प्रकार विचलित नहीं होता, भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं तत:।
यस्मिन्स्थितो न दु:खेन गुरुणापि विचाल्यते॥ (गीता ६। २२)

परमात्माकी प्राप्तिरूप जिस लाभको प्राप्त होकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता और परमात्मप्राप्तिरूप जिस अवस्थामें स्थित योगी बड़े भारी दु:खसे भी चलायमान नहीं होता।

धर्मवीर युधिष्ठिरने हिमालयमें धर्मसंकट पड़नेपर धर्मकी ही रक्षा की। उन्होंने स्वर्ग-प्राप्तिकी बात ठुकरा दी। यक्षद्वारा राज्यका एवं भाईका लोभ दिखानेपर भी उन्होंने कुछ भी परवाह नहीं की। धर्मके लिये किसीकी भी परवाह नहीं की। इतनी कठिनता पड़नेपर भी धर्मका त्याग न करना वीरता है। इस प्रकार धर्मका त्याग न करनेवाला करोड़ोंमें कोई एक होता है। हमें इसी प्रकार बनना चाहिये।

धर्म-पालनका जब कभी मौका पड़े, उस समय आपको ये बातें याद आ जायँ तो आपको लाभ हो सकता है। समय-समयपर उसे याद कर लें, या इसे रोज पढ़ें तो बहुत लाभ हो सकता है।

किसीको मेरी लंबी मित्रतासे ज्यादा लाभ हुआ हो या उससे मुझे लाभ हुआ हो यह बात नहीं है। इसका कारण यह है कि मित्रता पहले सकाम भावसे रही, लौकिक कामको लेकर रही। भगवद्विषयको लेकर भी सम्बन्ध रहा, पर कामनाकी प्रबलता रही। ईश्वरसे भी यदि रुपयोंके लिये मित्रता करे तो वह नीचे दर्जेकी ही है। यद्यपि ईश्वर तो ऊँचे भावसे ही देखते हैं, किंतु निष्कामी भक्तकी विशेष प्रशंसा करते हैं, ऊँचा दर्जा तो निष्कामीका ही है।

किसी सज्जनने पूछा—आपके साथ निष्कामभावसे भी तो लोगोंकी मित्रता होगी?

मित्रता उसीको कहते हैं जिसमें परस्पर मित्र-भाव हो। मेरी तरफसे मित्रताका भाव हो दूसरेकी तरफसे श्रेष्ठताका भाव हो तो वह मिश्रित मित्रता है। भगवत्प्राप्तिकी कामनाको लेकर इस प्रकारकी मित्रता कई आदमियोंकी है। भगवत्प्राप्तिकी कामना कामना नहीं मानी जाय तो कई आदमियोंकी मित्रता है।

भगवत्प्राप्तिकी इच्छा न हो ऐसा प्रेम किसीका मेरे साथ नहीं है। ऐसा प्रेम मनुष्यके साथ होना भी क्यों चाहिये, यह भी अपना सिद्धान्त है। ऐसा प्रेम तो भगवान्‌के साथ ही होना चाहिये। उस प्रेमका अधिकारी मनुष्य नहीं है। मैं यदि भगवान्‌से बलवान् होता तो कह देता कि भगवान्‌के मिलनेकी भी परवाह मत करो। कल्याण करके क्या करोगे? भगवान् भी क्या कभी अपना उद्धार चाहते हैं। भगवान्‌के कर्म दिव्य हैं। उसका जन्म दिव्य है। वे झंझट ही नहीं मानते तो फिर इनसे मुक्ति क्यों चाहेंगे। इन सब बातोंमें रहस्य भरा हुआ है। इसे सुननेवाला मनुष्य अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार समझ सकता है। यह विनोद समझो या रहस्य समझो। ये सब पुस्तकोंमें मिलनेवाली बातें नहीं हैं। बड़ी विचित्र बात है।

यदि कोई कहे कि अगर यह विचित्र बात है तो उसे स्पष्ट होना चाहिये? तो संक्षेपमें इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—इस प्रकारका प्रेम भगवान्‌से ही होना चाहिये। यदि मैं कहूँ कि भगवान्‌की परवाह मत करो, विशुद्ध प्रेम करो तो यह कहना मेरे लिये अनुचित ही होगा। मेरे हृदयका अन्धकार समझना चाहिये। यदि मैं कोई प्रभावशाली पुरुष हूँ तो कह सकता हूँ कि ईश्वरकी भी परवाह न करके ईश्वरसे विशुद्ध प्रेम करनेकी अपेक्षा मेरेसे विशुद्ध प्रेम करनेसे नतीजा ज्यादा बढ़िया हो सकता है। ऐसी बात वास्तवमें हो तो भी मुझे यह बात नहीं कहनी चाहिये। या मैं ठग हूँ तो यह कह सकता हूँ; क्योंकि कोई भी श्रेष्ठ

पुरुष इस प्रकार नहीं कहेगा। जो ठग हैं, महात्माके स्थानपर बैठकर अपनी पूजा करवा रहे हैं, वे इस प्रकार कहेंगे। किसीमें छिपी हुई मुक्तिकी कामना हो और पीछे उसे मालूम पड़े कि मैंने जो आशा कर रखी थी, इस प्रकारके ये पुरुष नहीं हैं तो उसके पश्चात्तापका ठिकाना भी नहीं रहेगा। इसलिये अच्छे पुरुषको ऐसी गुंजाइश ही नहीं देनी चाहिये। कोई भी उच्चकोटिका महात्मा अपने नाम या रूपको नहीं पुजवायेगा, न ऐसी चेष्टा ही करेगा और न प्रेरणा ही करेगा। वह तो भगवान्‌के नाम-रूपको ही पुजवायेगा और भगवान्‌के नाम-रूपकी ही पूजा करनेकी प्रेरणा देगा।

मान लीजिये यदि मैं महात्मा हूँ और मेरे घरमें कोई मर जाय, उस समय कोई आकर धैर्य बँधाये तो मूर्खता ही है।

अभिमन्युकी मृत्युपर युधिष्ठिर शोक करने लगे तो ऋषियोंने आकर कहा कि अभिमन्युने तो उत्तम गति प्राप्त की है, उसके लिये शोक नहीं करना चाहिये।

मरनेके बाद शोक-सभा करना स्वाभाविक बात है, किंतु वास्तवमें विचार करके देखा जाय तो उच्चकोटिका पुरुष मरे तो उसके लिये शोक क्यों करना चाहिये! उत्तम पुरुषोंके चले जानेपर क्या शोक मनाना चाहिये? नहीं, पश्चात्ताप करना चाहिये। पश्चात्ताप भी इस प्रकार करना चाहिये—'ऐसे पुरुषोंसे सम्बन्ध होनेपर भी जो लाभ उनसे उठाना चाहिये था, वह नहीं उठा सका।' उत्तम पुरुषोंका भी कैसा पश्चात्ताप, वे तो मर्यादाका पालन कर देते हैं। उनके लिये तो शोक-हर्ष-पश्चात्ताप करना कलंक है। जो जिज्ञासु हैं उनके लिये कोई कलंक नहीं। सिद्धके लिये कलंक है।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥

(गीता ३। १७-१८)

जो मनुष्य आत्माहीमें प्रीतिवाला और आत्माहीमें तृप्त तथा आत्मामें ही संतुष्ट होवे, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है, क्योंकि इस संसारमें उस पुरुषका किये जानेसे भी कोई प्रयोजन नहीं है तथा नहीं किये जानेसे भी कोई प्रयोजन नहीं। इसका सम्पूर्ण भूतोंमें कुछ भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं है तो भी उसके द्वारा केवल लोकहितार्थ कर्म किये जाते हैं।

यहाँ सब बैठे हैं। सत्संगकी बात हो रही है। नीचे कोई आदमी बात करे और वह कानमें आ गयी इससे अपनेको तो बाधा आती है, पर महापुरुषके नहीं। व्यवहार योग्यताके अनुसार होना चाहिये। शिष्टाचारसे व्यवहार कर सकता है। फिर वर्णाश्रमके अनुसार अलग-अलग बात है। लक्ष्मणको शक्ति लगी तो भगवान् विलाप करने लगे। आप लोग जितने हैं किसीका भी पहले मरना हो तो सबकी मृत्युपर मेरा व्यवहार अलग-अलग होगा, क्योंकि सबका सम्बन्ध—प्रेमभाव एक-सा नहीं है फिर मेरा भी एक-सा क्यों होगा। यदि कोई पूछे कि तुम्हें सबसे ज्यादा प्रिय कौन लगते हैं? मेरा जो ध्येय है, मैं जिस बातको अच्छा समझता हूँ, मेरे ही भावके अनुसार जिसका भाव है, मेरी समझके अनुसार ही जिसकी मान्यता है वह ज्यादा प्रिय है। उदाहरणके लिये गीता-उपनिषद्की बात कही जाती है, उसी तरह दूसरा जो चाहता है, वह मुझको प्रिय है। मैं पुस्तकोंमें सुधार चाहता हूँ। इसी प्रकार जो सुधार चाहता है वह ज्यादा प्रिय है। मेरे जीते हुए या मरनेके बाद मैं जिस बातको अच्छा समझूँ, उसीका ज्यादा प्रचार जो करे उसीको मैं ज्यादा प्रिय समझता हूँ।

गीता-उपनिषद् आदि जितने सद्ग्रन्थ हैं, उनका जो भाव अपनी तुच्छ बुद्धिके अनुसार समझमें आवे, उसके अनुसार जो मनुष्य प्रचार करे वह मुझे ज्यादा प्रिय है। विचार करके देखा जाय तो आपको भी ऐसा ही आदमी प्रिय लगेगा। यदि शरीरके भोगोंके किंकर होंगे तो इसके विरुद्ध भी बात आपको जँच सकती है। श्रुति-स्मृतिके अनुसार जो प्रार्थना की जाती है, उसके अनुसार जो चेष्टा करता है, वही मेरा सखा है, वही मेरा अनुयायी है, मैं उसका अनुयायी हूँ।

जो आदमी अपना कल्याण चाहे उसके लिये लाखों आदमियोंमें घोषणा करके कहा जा सकता है कि उसके कल्याणमें संशय नहीं है, क्योंकि वह मेरी बात नहीं है, भगवान्‌की बात है। समझानेके लिये ही मैं कहता हूँ कि मेरा शब्द है। मेरा शब्द नहीं है, ईश्वरका कहा हुआ वचन है। मैं कहूँ और स्वयं पालन न करूँ तो मेरा कल्याण नहीं हो सकता। आप पालन करें तो आपका कल्याण हो सकता है।

नाम-रूप परमात्माका ही पूजनेके लायक है। जो अपने नाम-रूपको पूजनेके लिये गुंजाइश देता है, वहाँ अंधेरा है। यह जो बात बता रहा हूँ न अज्ञानी बता सकता है, न आचार्य ही। मूर्खको तो मालूम नहीं है। आचार्य खुद पूजा चाहता है। इसीलिये वह नहीं कह सकता। अतः साधकको आचार्यत्व स्वीकार नहीं करना चाहिये।

अपने विषयमें मैं क्या बतलाऊँ। भविष्यमें क्या होगा यह तो कोई नहीं कह सकता। यह अनुमान किया जा सकता है कि मेरा जो विशेष अनुकरण करनेवाला है, मैं यही विश्वास करता हूँ कि वह मेरे नाम-रूपका पूजन नहीं करेगा। अपने नाम-रूपकी पूजा अच्छे पुरुषोंके लिये कलंक है, जिस बातके लिये दूसरोंकी संसारमें लोग निन्दा करते हैं, घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं वे हमें घृणाकी दृष्टिसे देखेंगे। इतना विरोध इसलिये किया जाता है, क्योंकि आवश्यकता है। जितना इसके लिये

विरोध किया जायगा उतना ही उन लोगोंको सहायता पहुँचती है। जितना कम किया जायगा उतना ही उन लोगोंके लिये घातक है। मैं नाम-रूप-पूजाके लिये विरोध करता हूँ। पर सत्संगकी बातें कहता हूँ, उसके लिये प्रचार और काममें लानेके लिये प्रेरणा करता हूँ।

ईश्वरके नाम, रूप, गुण, चरित्र, उपदेश और प्रभाव—ये सभी स्मरण-चिन्तन करने लायक हैं। महात्माके नाम-रूपको छोड़कर चार लेने लायक हैं और मेरी एक बात लेने लायक है जो मैं कथन करता हूँ। तीन बात छोड़ दो—गुण-प्रभाव-चरित्र, क्योंकि मेरा सारा चरित्र आदर्श नहीं है। मेरा सारा गुण धारण करने लायक नहीं है। सभी चरित्र पवित्र नहीं है। ईश्वरकी सभी ली जा सकती हैं। महात्माकी चार ही। बाकीकी दो भी ली जा सकती हैं, ईश्वरके मुकाबलेमें नहीं, गुरु-शिष्यके पदमें ली जा सकती है। गुरु-पूजा नष्ट नहीं करनी है। इसलिये जो आचार्य-कोटिके पुरुष हैं, उनकी शिष्य यदि पूजा करें तो आपत्ति नहीं।

मेरेमें अच्छी बात हो और उसे कोई ले तो विरोध नहीं है। मेरेमें जो गुण हो उसे ले ले, बुराई हो उसे छोड़ दे, लेना यानी काममें लाना। मेरी जीवनी लिखकर प्रचार करे तो मुझे कलंक ही लगता है। जब श्रीरामचन्द्रजीका जीवन सामने पड़ा है, फिर उसे क्यों आच्छादित करना चाहिये।

यह जो बात कही जाती है कि मैं नयी बात सुनाता हूँ, पुस्तकोंमें नहीं मिल सकती है, ये मेरे शब्द तो अनुचित हैं। कहनेकी जरूरत नहीं है तो फिर क्यों कहा जाता है। मुझे तो समझना चाहिये कि स्वभावका दोष है। आपको क्या समझना चाहिये यह आप सोचें। आपकी दृष्टिसे जो जँचे सो अर्थ निकालें। वह अर्थ मुझे नहीं सिखाना चाहिये। आपके स्वयं समझमें आ जाय तो इसीमें आपका हित है।

आर्षग्रन्थोंका संसारमें प्रचार करनेसे जितने भगवान् खुश हो सकते हैं और किसीसे नहीं। भगवान् चाहे न मिलें पर भगवान्‌में अनन्य प्रेम होना चाहिये। यह याचना याचना नहीं है, यह उद्देश्य पवित्र है।

भगवत्प्रेमका हेतु क्या है? भगवत्प्रेम और उस प्रेमका हेतु भगवान्‌का दर्शन नहीं बल्कि उसका हेतु भी भगवत्प्रेम है, भगवत्प्रेमका फल भी भगवत्प्रेम है। यह बात समझमें आ जाय तो क्या होना चाहिये। भगवान् ही उसके दर्शनकी इच्छा करें, किंतु यह उद्देश्य नहीं रखना चाहिये कि भगवान् आकर दर्शन करें, क्योंकि अपने तो उसके लायक नहीं हैं। जहाँ प्रेम होता है, वहाँ बुलानेकी आवश्यकता नहीं है।

बुलावा भेजकर बुलाना न तो उच्च कोटिका प्रेम है, न शिष्टाचार है; न व्यवहार है। यह बात प्रेमका तत्त्व है। प्रेमका तत्त्व तो प्रेमास्पद भगवान् ही जानते हैं। इसलिये यह प्रेमके तत्त्वका अंश है।

कल्याण-प्राप्तिका सरल साधन

श्रीभगवान्‌के नामकी महिमा अपार है। केवल नाम-जपके प्रभावसे सब कुछ हो सकता है। इसलिये अबसे लेकर मरणपर्यन्त यदि भगवान्‌को कभी न भूले, नित्य-निरन्तर भजन-ध्यान करता रहे, जी-तोड़ प्रयत्न करे तो फिर हमारे कल्याणमें देरी नहीं, जब आप जी लगाकर भजन करेंगे तो भजन क्यों नहीं होगा? भगवान् कहते हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८। १४)

हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ, अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।

मन लगाकर भजन करनेवालेको भगवान् सुलभ हैं। यदि आप कहें कि वे तो सुलभ हैं, पर उनका चिन्तन सुलभ नहीं है, ऐसी बात नहीं है, क्योंकि जब आपको निरन्तर चिन्तनसे भगवान्‌की सुलभताका अनुभव हो जायगा, आपका इस बातमें विश्वास हो जायगा तो फिर आपके लिये चिन्तन भी सरल हो जायगा। यदि चिन्तन नहीं होता है तो समझना चाहिये कि इस बातमें श्रद्धाकी कमी है, श्रद्धा करनी चाहिये। आरम्भमें तो श्रद्धा करनी पड़ती है, श्रद्धा होनेपर फिर स्वतः चिन्तन होने लगता है।

नामकी महिमा शास्त्रोंमें जो मिलती है, वह अल्प है। नामकी

महिमा इससे भी बहुत ही अधिक है। नामकी महिमा जितनी गायी जाय उतनी ही थोड़ी है। आप कहें कि जितनी शास्त्रोंमें है, हमें तो उतनी ही महिमा नहीं मालूम पड़ती तो फिर विशेष मानी ही कैसे जाय? बात यह है कि नामकी महिमा जो शास्त्रोंने गायी है वह वास्तवमें पूर्ण सत्य है, पर जैसे उल्लूको प्रकाश नहीं दीखता और मनुष्यको मोतियाबिंद हो जानेपर दिखायी नहीं देता, परन्तु सूर्यका अभाव नहीं होता। जब मोतियाबिंदकी तरह अश्रद्धा दूर हो जायगी तब अपने-आप नाम-जपका फल दीखने लग जायगा। जिस प्रकार काठपर चढ़कर छूनेसे बिजलीका असर नहीं होता, उसी प्रकार हमारेमें अश्रद्धारूपी काठ आ गया है, जिससे हमें लाभ नहीं दीखता।

आप कहें कि हम भजन करते तो हैं पर पापोंका नाश नहीं हुआ। इसमें आपकी यह मान्यता—ऐसी धारणा करना कि पाप-नाश नहीं हुआ ही कारण है। यदि आप यह श्रद्धा कर लें कि भजनसे पापोंका नाश हो रहा है तो देखिये कितना लाभ होता है। यही बात दैवी सम्पदाके विषयमें है। जो यह समझता है कि हमसे कोई बुराई नहीं हो सकती, उससे कोई बुराई नहीं होती। जैसे हम लोगोंका यह निश्चय हो गया कि 'हमसे बकरा नहीं काटा जा सकता' यह पक्का निश्चय है। पर सोचिये यदि हाथमें छुरी लेकर चलावें तो क्यों नहीं काटा जा सकता, क्या असमर्थता है? किंतु हमारा यह दृढ़ निश्चय होनेसे ऐसा करनेमें हम असमर्थ हैं। इसी प्रकार यदि हम यह निश्चय दृढ़ कर लें कि हमसे बुराई हो ही नहीं सकती, मांस और अंडे खाने-जैसा घृणित कार्य हो ही नहीं सकता, इसी प्रकार यदि हम सभी पापोंको-बुराइयोंको मांस और अंडे खानेसे भी अधिक बुरा मान लें, दृढ़ निश्चय कर लें तो फिर कोई भी बुराई कैसे हो सकती है? निश्चय प्रबल हो तो बहुत लाभ हो सकता है। चाहे हमें खानेको न मिले, भूखे मर जायँ

पर हमसे गाय नहीं काटी जा सकती, इसी प्रकार यह निश्चय कर लें कि भगवान्‌का भजन इतने लाभकी चीज है और वह हमसे कदापि नहीं छूट सकता तो फिर कभी नहीं छूटेगा। भगवान् श्रीराम कहते हैं—'मैं पिताकी आज्ञाका त्याग नहीं कर सकता, इसमें मैं असमर्थ हूँ।' उनके लिये पिताकी आज्ञा मान लेना ही सरल है। इसलिये हमें निश्चय पक्का करना चाहिये। फिर भजन-ध्यान छूट ही नहीं सकता।

महात्मा और शास्त्र कहते हैं कि कलियुगमें निष्काम कर्मका थोड़ा भी साधन उद्धार कर देता है। परमात्मामें थोड़ा भी प्रेम हो जाय तो वह अपने-आप बढ़कर उद्धार कर देगा। महात्माओंके—शास्त्रोंके इन वचनोंपर हमें श्रद्धा करनी चाहिये। गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(९। ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है। अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

इस प्रकार भगवान्‌ने सबके उद्धारके लिये रास्ता बता दिया है। यह हमें मान लेना चाहिये। संसारमें कोई कैसा भी क्यों न हो, उसका भी कल्याण हो सकता है। भगवान् कहते हैं—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥

(गीता १३। २५)

'परंतु इनसे दूसरे अर्थात् जो मन्दबुद्धिवाले पुरुष हैं, वे इस प्रकार न जानते हुए दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसारसागरको निःसंदेह तर जाते हैं।'

भगवान् मानने और जाननेपर बहुत जोर देते हैं। सुननेकी अपेक्षा मानना उत्तम है और माननेकी अपेक्षा तत्त्वसे जान लेना और भी उत्तम है। जैसे एक बालकसे हम कहते हैं कि यह तुम्हारी माँ है, यह बाप है, चाचा है तो वह सुनकर उसे मान लेता है, फिर आगे जाकर जान जाता है कि इसका क्या मतलब है। इसी प्रकार हमें भी सुनी हुई बातोंको उसी तरह मान लेना चाहिये और फिर उसका तत्त्व जान लेना चाहिये। भगवान् कहते हैं—'**ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति**' (गीता ५। २९) 'जो मुझे तत्त्वतः जान लेता है वह शान्तिको प्राप्त हो जाता है।' भगवान्‌की इस बातको हमने सुन तो लिया पर इसे मानते नहीं। मान लें तो काम बन जाय।

भगवान्‌ने गीतामें जाननेपर विशेष बल दिया है। असलमें जो काम मनसे होता है उसका मूल्य है। किसी भी क्रियामें यदि मनमें कोई स्वार्थ है तो वह नीचे दर्जेकी है। क्रियामें तीन ही बात प्रधान है—क्रिया या तो स्वार्थसे होती है या परमार्थसे अथवा इन दोनोंसे रहित। जहाँ स्वार्थ और परमार्थ दोनों ही नहीं हैं, उन क्रियाओंका तो बिलकुल ही त्याग कर देना चाहिये। प्रमाद और आलस्यसे तो बचे ही रहना चाहिये। सांसारिक स्वार्थकी क्रियासे भी बचना चाहिये। सारा समय भगवान्‌की ओर ही लगाना चाहिये। इसमें जोर लगावें तो बहुत ही

जल्दी लाभ हो सकता है। जिस प्रकार जब हम यह समझ जायँगे कि यह गड्ढा है, इसमें हम गिर जायँगे तो प्राण-नाश हो जायगा तो हम उसके पास भी नहीं फटकेंगे, इसी प्रकार यदि हम पापोंको समझ लें तो फिर हम कभी पाप कर ही नहीं सकते। क्योंकि भगवान् कहते हैं—'**अधो गच्छन्ति तामसाः**' (गीता १४। १८)। तामसी व्यक्ति अधोलोकमें जाते हैं, यह समझनेपर फिर कोई भी दुर्गुण-दुराचार हमसे हो ही नहीं सकता। यदि लौकिक स्वार्थका चिन्तन भी हानिकारक मालूम देने लग जाय तो उससे छुटकारा हो सकता है। परमार्थ-विषय ही सबसे बढ़कर उच्च कोटिकी चीज है।

मैंने जो बात कही है, उसको एकान्तमें बैठकर बार-बार विचार करना चाहिये। 'चाहे सर्वस्व नाश हो जाय, पर जिससे ८४ लाख योनियोंमें भटकना पड़े वह काम हम नहीं करेंगे।' इस प्रकार दृढ़तासे सोच लेनेपर हम वास्तवमें सुखी हो सकते हैं। ऐसा समझनेपर और काम गौण हो जाते हैं। यदि इन बातोंको हम समझ लेते तो हमें और काम खतरनाक दीखने लगते और सबसे पहले हम भजन ही करते। अभी तो मान्यतामें ही कमी है, फिर जानना तो बहुत दूर है। वस्तुके तत्त्वका ज्ञान होनेपर तो फिर काम खत्म हो जायगा। हमें अपने नित्यकर्मके साथ ५ मिनटके इस विचारको भी नित्यकर्ममें शामिल कर लेना चाहिये। रोज ५ मिनट इन बातोंका मनन करना चाहिये। यदि हमारे शरीरका नाश हो जाय तो हमारी क्या हानि है, क्योंकि ये सब तो नाशवान् हैं ही। मनुष्ययोनिके सिवाय अन्य योनियोंमें आत्मकल्याणके लिये साधन नहीं है, इसलिये इस मनुष्यशरीरको पाकर अपना काम बना लेना चाहिये। शास्त्र कहते हैं—'**उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत**'। उठो, जागो और आत्मकल्याणकारी श्रेष्ठ वचनोंको सुनकर, जानकर लक्ष्यकी प्राप्तिमें आगे बढ़ो।

तुम अध्यात्मविषयमें सो रहे हो, इससे जागो। जागनेपर भी फिर सो सकता है, इसलिये कहा कि उठ जाओ और फिर उस तत्त्वको समझो। पर हम तो मोह-मायारूपी मदिरा पीकर नशेमें ऐसे चूर हो रहे हैं कि हमें कुछ भी मालूम है ही नहीं। केवल जाननेसे परमात्माकी प्राप्ति हो जायगी। हमें तो जाननेवाले महात्मासे जान लेना चाहिये। श्रुति, शास्त्र और महात्मा-पुरुषोंकी बातोंपर ध्यान देना चाहिये। वे हमें चेतावनी दे रहे हैं। हमें पागल और बालककी भाँति लापरवाही नहीं करनी चाहिये। नहीं तो इसका कुफल भुगतना पड़ेगा। विचारना चाहिये, पापी-से-पापी भी हो और आज ही मरनेवाला हो, उसका भी जब कल्याण हो सकता है फिर हमारे पास तो बहुत समय है। इतनेपर भी यदि हम अपना आत्मकल्याण नहीं करते तो हमारे जैसा मूर्ख और कोई है ही नहीं। हम नहीं मानेंगे तो शास्त्रों और महात्माओंकी तो कोई हानि है ही नहीं। हानि तो हमारी ही है। अतः हमें विचार करना चाहिये। हमारा जिसमें परम हित है, उस कामके लिये प्राणपर्यन्त कोशिश करनी चाहिये। उस कार्यके लिये मर मिटना चाहिये। लोग तो धन और मान-बड़ाईके लिये मर मिट जाते हैं, जेल चले जाते हैं, प्राणोंका त्याग कर देते हैं। इससे उन्हें मान मिलता है पर कल्याण तो नहीं होता। वस्तुतः कल्याणके लिये मरना ही असली मरना है। आदमी मरे तो ऐसा मरे कि फिर कभी मरना न पड़े, धर्मके लिये मरे।

भगवान् एवं महात्माका प्रभाव

भगवान्‌के प्रभावको मैं जाननेवाला होता तो मेरे संग, भाषण, स्पर्शकी तो बात ही क्या मेरे दर्शनसे ही आपका कल्याण हो जाता। फिर भी इस बहाने भगवान्‌की चर्चा करनी है। जबतक भगवान्‌की प्राप्ति नहीं होती, हमलोग हजारों बार स्वर्गमें और नरकमें गये हैं। घट यन्त्रकी तरह घूमते रहते हैं परन्तु आजतक सदाके लिये होनेवाली शान्ति नहीं मिली, वह आनन्द नहीं मिला।

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्‌बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

(गीता ६। २१-२२)

'इन्द्रियोंसे अतीत, केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिद्वारा ग्रहण करनेयोग्य जो अनन्त आनन्द है; उसको जिस अवस्थामें अनुभव करता है और जिस अवस्थामें स्थित यह योगी परमात्माके स्वरूपसे विचलित होता ही नहीं।

परमात्माकी प्राप्तिरूप जिस लाभको प्राप्त होकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता और परमात्मप्राप्तिरूप जिस अवस्थामें स्थित योगी बड़े भारी दुःखसे भी चलायमान नहीं होता।'

सारे शरीरको कपड़ा लपेटकर किरासिन तेलसे भिगोकर आग लगा दे, जैसे हनुमान्‌जीकी पूँछको आग लगायी गयी, प्रह्लादजीको अग्निमें डाल दिया गया, किन्तु उनके कोई असर नहीं हुआ। ऐसी स्थितिको हम लोग प्राप्त कर लें तो संसारमें भक्ति-ज्ञान-वैराग्यका इतना प्रचार कर सकते हैं कि कलियुगका सत्ययुग हो जाय।

हमलोग गीताका पाठ करते हैं। उसके अर्थ, भावके अनुसार जिसका जीवन हो वही पुरुष संसारमें सबसे श्रेष्ठ है। उसका जीवन सफल है। केवल मूल पाठ करनेवालेसे अर्थसहित पाठ करनेवाला हजारों गुना, उससे हजारों गुना अर्थ समझनेवाला, उससे भी हजारों गुना भाव समझनेवाला और उससे भी अनन्त गुना उसके अनुसार

जीवन बनानेवाला श्रेष्ठ है।

नास्तिकको भी अपनी बुद्धिके अनुसार जो बात सबसे उत्तम मालूम दे उसके अनुसार अपना जीवन बिताना चाहिये। उनको भी यह निश्चय होगा कि सत्य बोलना श्रेष्ठ है। ब्रह्मचर्यका पालन करना श्रेष्ठ है। चोरी करना बुरा है। मिथ्या व्यवहार बुरा है।

हम लोगोंको ब्रह्मचर्य, सत्य, अहिंसा, धर्मका पालन करनेके लिये मनुष्य बनाया गया है, हिंसा करनेके लिये, दूसरोंको दुःख देनेके लिये नहीं बनाया गया।

संसारमें और किसी भी जीवको यह शक्ति नहीं है कि सबका उपकार कर सके। मनुष्य देवताओंतक सारी त्रिलोकीका प्रबन्ध कर सकता है। ऐसा मनुष्य शरीर पाकर जो उसे बर्बाद करता है उसके लिये वेद भगवान् कहते हैं—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
ताꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

(ईशावास्योपनिषद् ३)

वे असुरसम्बन्धी लोक आत्माके अदर्शनरूप अज्ञानसे आच्छादित हैं। जो कोई भी आत्माका हनन करनेवाले लोग हैं वे मरनेके अनन्तर उन्हें प्राप्त होते हैं।

मनुष्य-शरीरको पाकर परमात्माको न जानना ही आत्महत्या है। ऐसे आत्महत्या करनेवालोंकी वही गति होती है जो फांसी लगानेवाले, जलमें डूबनेवाले आत्महत्यारोंकी होती है।

जिस बातको आप श्रेष्ठ समझते हैं, सत्य बोलना उत्तम है—आपकी बुद्धिसे, शास्त्रसे, महात्माओंसे भी यही निश्चय करते हैं फिर भी झूठ बोलते हैं—आत्मग्लानि होती है, पतन होता है। जो भाई इस मौकेको पाकर भी आत्माका कल्याण नहीं करता है उसे बहुत पछताना पड़ेगा।

अपना समय व्यर्थ नहीं बिताना चाहिये। हमारे द्वारा होनेवाले बुरे और भले कामोंकी नित्य सम्हाल करनी चाहिये।

आपके पास ऐसा कौन सा उपाय है जिससे आपको यदि अभी

मृत्युका बुलावा आ जाय तो आप जानेसे इन्कार कर सकें।

आप चाहे किसी धर्म-आचार्य-साधु महात्माको न मानें, परन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि आपको अपने सिद्धान्तोंके अनुसार तो अपना जीवन बिताना ही चाहिये। आपके अन्त:करणके विरुद्ध आप नीचे काम कर रहे हैं, आप मनुष्य हैं। पतन नहीं होना चाहिये, ऊँचे उठना चाहिये।

ईश्वरने आपको बुद्धि और ज्ञान दिया है, विचार करें, आत्माको उठायें—पतन न करें। जिसकी मन इन्द्रियाँ वशमें हैं, वह अपने आपको उठा सकता है। यह मनुष्य आप ही अपना मित्र है, आप ही शत्रु है। जिसके मन इन्द्रियाँ वशमें है वह आप ही मित्र है। वशमें नहीं वह आप ही अपना शत्रु है। एक स्त्री जाती है, हमारे नेत्र उस तरफ जाते हैं, समझना चाहिये कि हमारे नेत्र अपने वशमें नहीं हैं। हम झूठ बोल रहे हैं, मनमें समझ रहे हैं आत्माका पतन हो रहा है। ईश्वरने आपको जब मनुष्य बना दिया है तो अब आपको अपनी आत्माका पतन नहीं करना चाहिये।

भगवान्‌के प्रभाव और रहस्यकी बात बतलायी जाती है। भगवान्‌के रहस्यको जानते ही भगवान्‌की प्राप्तिमें विलम्ब नहीं होता। एक-एक शब्दमें ऐसा रहस्य भरा पड़ा है।

भगवान् सूत्ररूपसे ५। २९ में कहते हैं—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

(गीता ५। २९)

मेरा भक्त मुझको सब यज्ञ और तपोंका भोगनेवाला, सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंका भी ईश्वर तथा सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी, ऐसा तत्त्वसे जानकर शान्तिको प्राप्त होता है।

जो इस बातके रहस्यको नहीं जानता वह मनुष्य नीचेकी तरफ जाता है। नीचेकी तरफ जाना गिरना है। जो यह जानता है वह परमशान्तिको प्राप्त होता है। भगवान्‌को जानना ही तो रहस्य है। जाननेसे ही शान्ति मिलती है। भगवान् कहते हैं—यज्ञ और तपका

भोक्ता मैं हूँ। किसीके लिये, देवता, मनुष्य आदिके लिये यज्ञ, दान आदि करते हैं उनका भोक्ता मैं हूँ। भगवान् बार-बार कहते हैं—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥

(गीता १०। २०)

हे अर्जुन! मैं सब भूतोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा हूँ तथा सम्पूर्ण भूतोंका आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ।

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥

(गीता १५। १५)

मैं ही सब प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित हूँ तथा मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन होता है और सब वेदोंद्वारा मैं ही जाननेके योग्य हूँ तथा वेदान्तका कर्ता और वेदोंको जाननेवाला भी मैं ही हूँ।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥

(गीता १३। १७)

वह परब्रह्म ज्योतियोंका भी ज्योति एवं मायासे अत्यन्त परे कहा जाता है। वह परमात्मा बोधस्वरूप, जाननेके योग्य एवं तत्त्वज्ञानसे प्राप्त करनेयोग्य है और सबके हृदयमें विशेषरूपसे स्थित है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

(गीता १८। ६१)

हे अर्जुन! शरीररूप यन्त्रमें आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमण कराता हुआ सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित है।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८। ४६)

जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त हो जाता है।

किसीकी सेवा भगवान्‌की सेवा, किसीका अनिष्ट करना भगवान्‌का अनिष्ट करना है। इस रहस्यको हम समझ जायँ तो हमको शान्ति प्राप्त हो जायगी।

हम किसी साधु महात्माको अपने घरपर भोजन कराके कितने सन्तुष्ट होते हैं। यदि भगवान् आ जायँ तब तो उनको भोजन करानेमें कितना आनन्द होगा, इसका क्या ठिकाना। राजा रन्तिदेव सबको साक्षात् भगवान् समझते थे। सब कुछ चला गया। ४८ दिन भूखे प्यासे बीत गये। ४९वें दिन घी, खीर, हलुवा और जल प्राप्त हुआ। परिवारको बाँटकर खाना चाहते थे कि एक ब्राह्मण अतिथि आ गये, उनको भोजन कराया। फिर एक शूद्र अतिथि आ गये उनको खिलाया। फिर एक और अतिथि कुत्तों-सहित आ गया, उसे बचा हुआ खिला दिया। केवल थोड़ा जल एक आदमीकी प्यास बुझाने लायक बचा। उसे पीना चाहते ही थे कि एक चाण्डाल आ गया। उसकी दीन पुकार सुनकर राजा वह जल भी उसे दे देते हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश ही इन रूपोंमें आये थे, वे प्रकट हो गये। राजाको वरदान देना चाहा, राजा निष्कामी थे कुछ नहीं माँगा। अपने परिवार-सहित भगवान्‌में ध्यान लगाकर भगवान्‌के परमधामको प्राप्त हो गये।

अभी तत्त्वकी बात बाकी है। जब आप समझ जायेंगे कि भगवान् ही सबकी आत्मा हैं तब **'वासुदेवः सर्वमिति'** यह आपको प्रत्यक्ष दीखने लगेगा। नामदेवजी कुत्तेके पीछे घीका कटोरा लेकर दौड़ते हैं—महाराज रोटी चुपड़ी नहीं है। भगवान् रुक नहीं सके, प्रकट हो गये। वाल्मीकिजी कहते हैं—पहले यह तो बतलाइये आप कहाँ नहीं हैं तब मैं रहनेकी जगह बताऊँ। प्रह्लाद कहते हैं—सब जगह हैं खंभेमेंसे प्रत्यक्ष प्रकट हो गये। जो किसीकी भी सेवा करते, भोजन कराते यह समझता है कि मैं भगवान्‌की ही सेवा करता हूँ, भगवान्‌को ही भोजन कराता

हूँ, उसे भगवान्‌की सेवा करनेका, भगवान्‌को भोजन करानेका ही फल होगा अर्थात् भगवान् प्रकट हो जायेंगे।

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥ (गीता ५। १८)

वे ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समदर्शी ही होते हैं।

सर्वत्र सम दृष्टि होगी, सब भगवान् ही दीखेंगे। ब्राह्मण, चाण्डाल, साधु सबको भोजन करानेमें वही आनन्द होगा, कुत्तेको रोटी देनेमें वही आनन्द होगा जो साक्षात् विष्णुको भोजन करानेमें होता है। गौको रोटी देनेमें, चीटियोंको दाना डालनेमें ऐसा आनन्द होगा कि वह हर समय आनन्दमुग्ध होगा।

तर्पणमें हम जलके द्वारा सारे त्रिलोकीके जीवोंके लिये जल देते हैं, सब भगवान्‌का रूप है-श्रीकृष्णार्पणमस्तु कहते हैं—देवता, ऋषि, पितृ, कीट, पतंग, शत्रु, मित्र सबको तृप्त करते हैं।

बलिवैश्वदेवमें भी यही बात है-सारा विश्व भगवान्‌का रूप है। सारे विश्वको बलि देकर भोजन करना है। बलिवैश्वदेवका बचा हुआ अन्न कुत्ते, गौ, चीटीं सबको दो। सारे विश्वको भगवान्‌का रूप समझनेसे कितनी शान्ति होती है। सबको भोजन कराने, जल पिलानेमें वही आनन्द होगा।

एकनाथजी गंगोत्रीका जल लेकर रामेश्वरको चढ़ाने जा रहे थे। उत्तरके सिरेसे लाकर दक्षिणके किनारेपर ले गये। रास्तेमें प्यासके मारे लोटते हुए गधेको व्याकुल देखकर जल पिला दिया। भगवान् प्रकट हो गये। भगवान् कहते हैं—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥ (गीता १०। ४२)

अथवा हे अर्जुन! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है। मैं इस सम्पूर्ण जगत्‌को अपनी योगशक्तिके एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥ (गीता ६। ३०)

जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता।

उससे भागकर भी भगवान् कहाँ जायँ। भगवान् कहते हैं कि मैं यज्ञ और तपोंका भोक्ता हूँ। लोग इस बातको नहीं जानते, इसीलिये गिरते हैं। जान लें तो प्रत्यक्ष शांति मिलती है। एक दिनमें आपमें परिवर्तन हो जायगा।

यह संक्षेपसे रहस्यकी बात बतायी गयी—सूर्यकी हजारों किरणोंमें एक किरणका अंश, समुद्रकी एक बूंदकी तरह बतायी गयी।

अब प्रभावकी बात—'**सर्वलोकमहेश्वरम्**' यह समझ लें तो आपको शान्ति मिल जायगी।

भगवान् कहते हैं—

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥

(गीता १५। १९)

हे भारत! जो ज्ञानी पुरुष मुझको इस प्रकार तत्त्वसे पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है। उसके पास मुझको छोड़कर दूसरी तरफ दृष्टि डालनेके लिये एक क्षणका भी समय नहीं रहेगा।

एक राजा थे। उन्होंने एक सेवकको यह वरदान दे दिया कि सुबहसे शाम तक जो चीज जितनी चाहो मेरे राज्यसे ले जाओ। राजाके पास कोयला, कंकर, पत्थर, सोना, चाँदी, पीतल, हीरा, मोती सब चीजें थीं। सेवकने सोचा कि सबसे दामी चीज ही लेनी चाहिये। वह हीरे मोती रत्नोंकी ओर ही गया। मूढ़ आदमी भी घटिया चीज नहीं लेना चाहेगा। इसी प्रकार मेरे प्रभावको जाननेवाला सब प्रकारसे मुझे ही भजेगा।

पारसका प्रभाव लोहेको सोना बनाना है—पारस दूसरा पारस नहीं

बना सकता; परन्तु भगवान्‌की तो बात ही निराली है। उनके भक्त भी बहुत प्रभावशाली होते हैं।

पारसमें अरु संत में यही अन्तरो जान।
वह लोहा सोना करे यह करे आप समान॥

हम लोग रुपयोंका प्रभाव अच्छी तरह जानते हैं। इस दुनियामें देखनेमें जो चीज आती है वह रुपयोंसे मिलती है, यह प्रत्यक्ष देखते हैं। रुपयोंके लिये भाई-भाई, माँ, बाप, जामाता सबसे लड़ते हैं।

भगवान्‌का प्रभाव हम समझ जायँ तो फिर हमारी क्या स्थिति हो जायगी। दधीचिके पास इन्द्र आते हैं—महाराज आपको जो आनन्द है, मुझे बताइये। ऋषि कहते हैं-तू उसका अधिकारी नहीं है। कुत्तेको कुत्तीके साथ जैसा आनन्द आता है वैसा तुम्हारा इन्द्राणीके साथका आनन्द है। त्रिलोकीके राज्यके प्रति भी ऋषिका क्या भाव है।

रुपयोंका इतना प्रभाव हमने कैसे जाना? बचपनसे हमने देखा कि सेव, लड्डू, खिलौना सब चीजें पैसेसे मिलती हैं। रुपयोंका महत्त्व इतना जानने लगे कि रुपयोंके लिये ईश्वर-धर्म, सबसे लड़ने लगे। यदि हम आज रातको मर गये तो सारे जन्ममें जितना समय रुपया कमानेमें लगा, सब मिट्टीमें गया।

यदि ईश्वरका प्रभाव जानने लगें तो सबको सुखी कर सकते हैं, मुक्तिका सदाव्रत बाँट सकते हैं।

करोड़पति लोग हाय-हाय करते मर रहे हैं, कोई उनको नहीं बचा सकता। रुपये उनकी रक्षा नहीं कर सकते। पिता-पुत्र लड़ रहे हैं—अदालतमें लड़ रहे हैं। रुपया रक्षा नहीं कर सकता। पति-पत्नी लड़ते हैं, रुपया रक्षा नहीं कर सकता। रुपया सन्तान पैदा नहीं कर सकता। रुपया आपको जवान नहीं बना सकता।

बचपनसे आजतक आपको जितने मिले सब रुपयादास मिले। सबने आपको रुपयोंका महत्त्व समझा दिया। अगर प्रभुके दास मिलते तो वे प्रभुका महत्त्व समझा देते। रुपये आपको मिट्टीके समान मालूम होने लगते।

साधन तीव्र करनेके लिये प्रेरणा

हमें दिन-प्रतिदिन उत्तरोत्तर उन्नति करनी चाहिये। ऐसी कोशिश करनी चाहिये कि पहले पन्द्रह दिन हमारा समय जैसा बीता उससे यह समय और बढ़िया बीते तथा भविष्यमें इससे भी और बढ़िया बीते। इससे भी सूक्ष्म बात सोचकर क्षण-क्षणमें उन्नति करनेकी चेष्टा करें तो आपको बहुत समय नहीं लगेगा, किंतु हमलोगोंकी उन्नतिकी बात तो दूर रही, अपितु उत्तरोत्तर पतन ही होता जा रहा है। पतन होनेका यह तात्पर्य नहीं है कि हमने जो कुछ साधन किया है, यह हमारी पूँजी नष्ट हो जायगी, वह तो कायम रहेगी, किंतु वर्तमानका साधन कम होता जा रहा है-यही पतन है। एक भाईके पास बीस लाख रुपये हैं और उसके लाख रुपया सालका रोजगार होता है। लाख रुपये सालकी जगह पचास हजारकी आमदनी होने लगी; फिर पचीस हजार होने लगी और आगे जाकर एक हजार होने लगी, अर्थात् सालमें लाख रुपया वाला रोजगार अब एक हजार होने लगा यानि व्यापार घट गया। व्यापार घटकर भी उसकी पहलेवाली बीस लाखकी पूंजी कायम है। इसको यही कहेंगे कि पहले तो उसके बहुत रोजगार होता था आजकल इसका काम एकदम फीका पड़ गया, एकदम कमजोर हो गया। इस प्रकार उसके व्यापारका पतन हो गया। यही अपना पतन है और इस तरहके पतनको रोज सम्भालना चाहिये कि आज क्या रोजगार हुआ। लोभी आदमी अपने मनमें अपनी दुकानका तलपट रोज बांध लेता है कि आज कितना रुपया कमाया। रुपयोंका-लोभी जिसकी रुपयोंमें आसक्ति है उसके ऐसा स्वाभाविक ही होता है। इसी

प्रकार अगर हम भगवान्‌के प्रेमी होंगे तो प्रीतिके कारण इस विषयकी संभाल अपने आप ही होगी। हमलोग जिस कामके लिये आये हैं उस काममें तत्पर होकर हमलोगोंको अपना समय बिताना चाहिये। परमात्माकी प्राप्तिमें जो विलम्ब हो रहा है उसमें हेतु परमात्मामें प्रीतिकी कमी है। प्रीतिकी कमीमें श्रद्धाकी कमी हेतु है और श्रद्धाकी कमीमें हेतु है हमारी मूर्खता। ये बड़े भारी दोष हैं। इन्हें एकदम हटाना चाहिये, अन्यथा इस लोक और परलोक दोनोंमें हमारा पतन हो जायगा।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥

(गीता ४। ४०)

विवेकहीन और श्रद्धारहित संशययुक्त मनुष्य परमार्थसे अवश्य भ्रष्ट हो जाता है। ऐसे संशययुक्त मनुष्यके लिये न यह लोक है, न परलोक है और न सुख ही है।

जैसे मदिरा पी लेनेपर पूर्वापरका विशेष ज्ञान नहीं रहता, उसी प्रकार मोहरूपी मदिराका पान करनेवालोंको आगे-पीछेका विशेष ज्ञान नहीं रहता। मोहरूपी मायाका नशा ही अज्ञता है, इसी कारणसे अज्ञान है। ऐसा संशयात्मा अश्रद्धालु पुरुष जिसकी परमात्मामें, परलोकमें, महात्माओंमें श्रद्धा नहीं है, उसका पतन हो जाता है। उसके लिये न तो यह लोक है और न परलोक है। संशयात्माको इस लोक और परलोकमें कहीं सुख नहीं है और वह जबतक जीता है तबतक संशय, भ्रम और मूर्खताके कारण चिन्तामें तपता रहता है और उसकी मरनेके बाद दुर्गति होती है। इन सब बातोंको सोचकर हमलोगोंको अपने कर्तव्यका पालन करना चाहिये।

किसी भाईको रात्रिमें स्वप्न आया और उस स्वप्नमें उसको अनेक प्रकारके सुख मिले। सारी पृथ्वीका राज्य मिल गया। बहुत सी रानियाँ

थीं, उनके साथ सहवास किया। बहुत बढ़िया-बढ़िया मोटर गाड़ियोंमें और वायुयानमें भ्रमण किया। संसारके खाने पीनेके जितने भी पदार्थ हैं उनका भी उपभोग किया। रातभरमें स्वप्नमें मानो दस वर्ष बीत गये। एक ही रातमें दस वर्षकी सैर हो गयी। उसके बाद आँख खुल गयी और आँख खुलनेके बाद कुछ भी नहीं दीख रहा है। फिर दूसरे दिन एक स्वप्न आया जिसमें उस भाईने दुःख-ही-दुःखका भोग किया। स्वप्नमें उसकी स्त्री मर गयी, पुत्र भी मर गया सम्पत्तियोंमें आग लग गयी, कहीं चोरी हो गयी, कहीं लूटा गया, कोई चीज जल गयी यानी सब चीज खत्म हो गयी। स्वयं भी ऐसा बीमार पड़ गया कि मरनेकी स्थिति हो गयी। इतनेमें उसकी आँख खुल गयी और अब कुछ भी नहीं। एक रातमें बड़ा भारी क्लेश भोगा तो भी कुछ नहीं और एक रातमें बड़ा भारी सुख भोगा तो भी कुछ नहीं। आँख खुलनेके बाद स्वप्नवाले शरीरसे कोई संबंध नहीं रहा, अतः जगनेके बाद न तो कोई दुःख ही है और न कोई सुख ही है, किंतु सुख भोगनेके समय जो सुख था वह प्रत्यक्ष था और दुःख भोगनेके समय दुःख प्रत्यक्ष था उसमें किसी प्रकारका भेद नहीं था। जैसा हम वर्तमान समयमें सुख भोगते हैं और स्वप्नमें जो सुख भोगा उसमें कोई फरक नहीं है। स्वप्नमें जो दुःख भोगा और जाग्रत् अवस्थामें जो दुःख भोगते हैं उसमें भी कोई फरक नहीं है। स्वप्नमें जिस समय हम सुख या दुःख भोग रहे थे उस समय तो हम प्रत्यक्ष ही भोग रहे थे और जब स्वप्नके संसारसे हमारा सम्बन्ध-विच्छेद हो गया तब कुछ भी नहीं रहा। इसी प्रकार इस शरीरमें रहकर सुख भोगे तो क्या और दुःख भोगे तो क्या? इस शरीरसे सम्बन्ध छूटनेके बाद तो वही दशा होती है जो स्वप्नसे जागनेके बाद होती है। यह बात समझमें आनेपर हमको यह विचार करना चाहिये कि अपने जीवनमें जो असली चीज है उसकी चेष्टा करनी चाहिये।

यानी जागनेके बाद भी जो चीज कायम रहे वही असली चीज है। शरीर-पात होनेके बाद भी जो चीज कायम रहे वही असली चीज है। असली चीजकी यह पहचान है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥ (गीता २। १६)

असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्का अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है।

भगवान्ने बताया कि जो सत्य है उसका तो कभी अभाव नहीं होता और जो मिथ्या है वह कभी कायम नहीं रहती यह कसौटी है। इस कसौटीसे हमें हर वक्त सांसारिक सुख और दुःखको कसते रहना चाहिये। सांसारिक सुख और दुःख दोनों ही कायम नहीं रहते। वे तो देखते-देखते क्षय होते चले जाते हैं। क्षय होनेवाली चीजकी कोई कीमत नहीं है। जो असली सुख है वह सदा कायम रहता है। मरनेके बाद भी वह कायम रहता है; क्योंकि वह सच्चा है। सत् वस्तुका कभी अभाव होता ही नहीं। (१) परमात्मा नित्य और सत् हैं (२) उनके विषयका सुख भी सत् है। (३) परमात्माके साथ जो संयोग है वह भी सत् है और संसारके साथ हमारा संयोग देखते-देखते मिट जाता है इसलिये वह मिथ्या है। स्वप्नके संसार और जाग्रत्के संसारमें तीन चीजें दोनों कालमें रहनेसे सत् मानी जाती हैं। उनमें एक चीज परम सत् है और बाकी दो चीजें सत् मानी जाती है। स्वप्नमें जो हमारा अंतःकरण और उसके दो भेद-मन और बुद्धि थे, वे ही अंतःकरण और मन बुद्धि जाग्रत्में भी कायम हैं, क्योंकि वे नहीं होते तो जागनेके बाद स्वप्नकी घटनाको हम कैसे समझ सकते। और उसमें जो आत्मा है वह तो कायम है ही, वह तो प्रत्यक्ष है। आत्मामें जो अनुभव हुआ कि मैं सुखी हुआ या दुःखी हुआ, जागनेके बाद भी वही ज्ञान है अतः आत्मा नित्य है।

आत्मा परम नित्य है क्योंकि परमात्माकी प्राप्तिके बाद भी आत्माका अभाव नहीं है। परलोक यानि नरक या स्वर्गमें भी हम चले जायँ तो वहाँ भी हमारी आत्मा है। आत्मा तो सदा ही कायम है और हमारे मन-बुद्धि भी कायम रहेंगे। हम कहीं भी नरक या स्वर्गमें जायँ ये हमारे सांसारिक मन बुद्धि भी कायम रहेंगे। किंतु यदि हम गुणोंसे अतीत परमात्माको प्राप्त हो जायँगे तो हमारी आत्मा जो कि सत्य और नित्य है वहाँ जायगी; परन्तु ये मन और बुद्धि मायिक होनेसे यहीं इस संसारमें रह जायँगे। स्वप्न भी मायिक था और संसार भी मायिक है। इसलिये स्वप्नसे जाग्रत्में आये जब तो मन बुद्धिकी सत्ता है किंतु जब हम उस परमात्माको प्राप्त हो जायँगे, उस नित्य और दिव्य परमधामको जायँगे तो वहाँ ये मायिक चीजें नहीं जा सकतीं। इसलिये यह समझना चाहिये कि ये मन और बुद्धि तो अपेक्षाकृत नित्य और आत्मा सदा ही नित्य है। आत्मा-विषयक आनन्द, परमात्मा-विषयक आनन्द तो सदा कायम रहेगा। इसलिये उस आनन्दको सच्चा समझकर उसकी ही इज्जत करनी चाहिये और मिथ्या आनन्दकी अवहेलना करनी चाहिये। इसमें हमको क्या परिश्रम है? जैसे कि हमारे पास पचास लाख रुपये हो गये और आज हम मर गये और मरकर स्वर्गमें चले गये। वहाँ जानेके बाद भी हमें ज्ञान है कि हम अमुक व्यक्ति थे और हम वहाँ पचास लाख रुपया छोड़कर यहाँ आये हैं किंतु वे रुपये स्वर्गमें तो जा नहीं सकते, वे तो यहीं रहेंगे। इसलिये पचास लाख रुपये रह गये तो क्या और एक लाख रुपये रह गये तो क्या और नहीं रहे तो क्या? जब परलोकमें उस धनके साथमें हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है तो उसके लिये अपने जीवनको हम क्यों बितावें? और जब स्वर्गमें उनके साथ सम्बन्ध नहीं है तो जहाँ गुणातीत परमात्माकी प्राप्ति है, परमात्माका नित्य परम धाम है वहाँ तो कोई सम्बन्ध है ही नहीं। वहाँ तो किसीके साथ कोई सम्बन्ध नहीं, किंतु यहाँ हमारा परमात्माके साथ जो सम्बन्ध हो गया

वह परलोकमें भी है और यहाँ भी है, वह नित्य और सत्य वस्तु है। परमात्मा नित्य और सत् वस्तु है, हमारी आत्मा भी नित्य और सत् वस्तु है। मन और बुद्धि तो थोड़े कालके लिये, परलोकके लिये तो नित्य हैं, किंतु परमात्माकी प्राप्ति होनेपर यहीं संसारमें रह जाते हैं। इसलिये परमात्माके सुखकी प्राप्ति ही असली चीज है और उसकी यह पहचान है कि उसका नाश नहीं होता और उसका परिवर्तन भी नहीं होता, वह चीज हर वक्त एक सी रहती है। जो चीज क्षण-क्षणमें क्षय हो या बदलती रहे वह मिथ्या है। ये मन और बुद्धि बदलनेवाली चीज हैं इसलिये मिथ्या हैं। हमारी बुद्धि बदलती रहती है। परमात्माके तत्त्वका बुद्धिमें जो यथार्थ ज्ञान हो जाता है उसमें फेर-बदल नहीं होता, उसमें कमी भी नहीं आती। इससे यह बात सिद्ध हो जाती है कि असली चीज परमात्मा है, अतः हमें परमात्माको पकड़ना चाहिये और परमात्माके सिवाय जो संसार है उसको पकड़ना महामूर्खता है। समझे कि हमको स्वप्न आ रहा है और हम वायुयानमें बैठकर सैर कर रहे हैं और उस वक्त थोड़ी जागृति हो गयी। हम उस अर्ध जाग्रत् अवस्थामें (बिल्कुल जागे भी नहीं और स्वप्न भी नहीं है बीचकी-सी अवस्था है) ऐसा विचार करें कि हम स्वप्नमें वायुयानमें जा रहे हैं, जहाँ हमारा लक्ष्य है वहाँ वायुयान पहुँचा दे फिर जागेंगे। फिर अधिक जागृति हो जाती है तो देखता है कि चाहे जहाँ पहुँच जाओ वहाँ न तो वायुयान है और न कहीं पहुँचना। जगनेके बाद क्या पहुँचना, अब तो मिथ्या कल्पना है, उस पहुँचनेमें मजा भी नहीं आता। वहाँ परलोकमें जानेके बाद इस संसारका रस नहीं आता, वह स्वप्नवत् हो जाता है उसका कोई संबंध ही नहीं रहता। इस लोक यानी संसारका शरीर तो यहीं रह जाता है इसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता, परलोकमें जानेवाला शरीर दूसरा है। उस शरीरके साथ इस संसारका और इस शरीरका कोई सम्बन्ध उसी प्रकार नहीं रहता जैसे जगनेके बाद स्वप्नके

संसारसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता तथा परमात्माके प्राप्त होनेके बाद यह लोक और परलोक वहाँ कोई नहीं रहते। वहाँ तो केवल एक परमात्मा ही है। ऐसा सोचकर असली आनन्दकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना चाहिये। जो मरनेके बाद भी कायम रहे उस आनन्दमें फेर बदल नहीं है, उस आनन्दकी कोई सीमा नहीं है, वह आनन्द घटता नहीं है, वह नित्य आनन्द है। इस नित्य आनन्दकी प्राप्तिके लिये अगर हम इस अनित्य सुखको लगा दें तो क्या आपत्ति है, क्योंकि यह तो अनित्य है ही। जो मूर्ख उस नित्य आनन्दको छोड़कर इस मिथ्या आनन्दके लिये अपना जीवन बिताता है उसको आगे जाकर घोर पश्चात्ताप करना पड़ता है।

यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवं परिसेवते।
ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति अध्रुवं नष्ट एव हि॥

जो पुरुष नित्य वस्तु परमात्माकी अवहेलना करके संसारके मिथ्या पदार्थोंका सेवन करता है उसके लिये सत् वस्तु नष्ट हो जाती है, उससे वह वंचित रह जाता है उसको वह नहीं मिलती। ये संसारके पदार्थ तो मिथ्या हैं ही, नाशवान् हैं ही इनसे तो संबंध है ही नहीं। ये सब बातें सोचकर मिथ्या सुख और भोगोंकी बिलकुल परवाह नहीं करनी चाहिये, उनकी एकदम अवहेलना करनी चाहिये। यहाँतक कि त्रिलोकीका राज्य भी हमारे हाथमें हो तो उसको ठुकरा देना चाहिये। इसमें फँसकर नहीं उलझना चाहिये क्योंकि ये हैं कितने दिनके लिये। इन सब बातोंको ध्यानमें रखकर यदि हमें क्षणमात्रका भी असली सुख मिले तो उसके बदलेमें त्रिलोकीके ऐश्वर्यको एकदम ठुकरा देना चाहिये। किसी कविने कहा है कि—

जो सिर काटे हरि मिले तो लीजे हरि दौर।
ना जाने किस वेषमें ग्राहक आवे और॥

यदि भगवान्‌की प्राप्ति मस्तक काटनेपर हो तो उसी वक्त मस्तक काट डालो, क्योंकि मस्तक काटनेसे इस शरीरसे ही तो वियोग होगा, वह तो होना ही है तथा यह संयोग भी किस कामका, यह दुःखमय है। स्वयं भगवान् कहते हैं—'**अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्**' (गीता ९। ३३) यह मनुष्यका शरीर अनित्य और क्षणिक है। इसमें सुख और शान्ति नहीं है। जो तुमको सुख और शान्ति प्रतीत होती है वह वास्तवमें नहीं है। अतः भगवान् कहते हैं कि मनुष्य शरीरको पाकर मेरा भजन कर क्योंकि मेरा भजन करनेसे तू मुझे ही प्राप्त होगा। इन सब बातोंको ध्यानमें रखकर यदि हम एक क्षण भी परमात्माको छोड़ते हैं या भूलते हैं, परमात्माको छोड़कर संसारके दूसरे विषयोंको पकड़ते हैं तो हम गलेमें फाँसी लगाकर मरते हैं। यह हमारे लिये बहुत ही खतरेकी चीज है। समझदार मनुष्यको ये बातें समझकर लाभ उठाना चाहिये। यह वास्तविक, यथार्थ तत्त्वकी बात है। आप थोड़ा विचार करें। विचारसे ही ये बातें युक्तिसे प्रत्यक्षकी तरह प्रतीत होगीं। ये ऐसी बात नहीं हैं कि हमने कह दिया कि शास्त्रोंमें लिखा है और आप मान लें। मैं तो तर्क और युक्तिसे आपको बता रहा हूँ। आप प्रत्यक्ष उस बातको सोच-समझकर अपनेमें घटाकर देख लें। परमात्मा नित्य हैं और परमात्मविषयक सुख असली सुख है। भगवान् नित्य हैं, उनका नाम नित्य है और उनका संयोग नित्य है। उनका संयोग होनेके बाद फिर वियोग नहीं होता।

वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः। (गीता ६। २१)

जिस कालमें उस परमात्माके स्वरूपका अनुभव करता है फिर वहाँसे कभी विचलित नहीं होता, कभी उससे च्युत नहीं होता, कभी उससे उसका पतन नहीं होता। इसलिये परमात्माके स्वरूपमें हमलोगोंको हमेशा स्थित रहना चाहिये। परमात्माको छोड़कर दूसरी किसी भी

वस्तुका चिंतन करना हमारे लिये महान् खतरनाक है। हमको कुटुम्बसे, रुपयोंसे, ऐश्वर्य और भोगोंसे और इस शरीरसे क्या प्रयोजन है। इस शरीरसे हमारा इतना ही प्रयोजन है कि उस अप्राप्तकी प्राप्ति कर लेनी चाहिये। स्वयं भगवान् कहते हैं कि तू निरन्तर मेरा चिन्तन कर, मैं तुम्हारा योगक्षेम वहन करूँगा।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ (गीता ९। २२)

जो अनन्यभावसे मेरा ध्यान और चिंतन करता हुआ उच्चकोटिकी उपासना करता है मैं उसका योगक्षेम वहन करता हूँ। योगक्षेमका भार जब भगवान्‌पर है तो हम उसके लिये चिंता क्यों करें? अपने लिये तो एक ही बात है कि निरन्तर भगवान्‌को याद रखना और उनका चिंतन करना। भगवान् बार-बार जगह-जगह कहते हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥ (गीता ८। १४)

हे पार्थ! जो अनन्य मनसे नित्य-निरन्तर मेरा स्मरण करता हुआ भजन करता रहता है यानी हर वक्त मेरा ध्यान करता है, उस योगी अर्थात् भक्त के लिये मैं सुलभ हूँ। और कोई शर्त नहीं है। बाकी सब तो स्वयं भगवान् अपने आप करते ही हैं। भगवान् कहते हैं कि उनके लिये और कोई कर्तव्य नहीं है—

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥ (गीता १२। ७)

जिन पुरुषोंने मुझमें चित्तको लगा दिया है, मुझमें चित्तका समावेश कर दिया है उनका मैं इस मृत्युरूप संसार सागरसे सम्यक् रूपसे उद्धार कर देता हूँ। सागरमें जलकी तरंगोंकी कोई संख्या नहीं बतला सकता, असंख्य तरंगें हैं। इसी प्रकार जन्म-मरणकी संख्या कोई नहीं बतला

सकता। पूर्वमें कितनी बार जन्म हुआ या भावीमें कितने जन्म होंगे इनकी संख्या कोई नहीं बतला सकता। भगवान् कहते हैं कि ऐसा जो जन्म और मृत्युरूप संसार है उससे मैं सम्यक् प्रकारसे उसका उद्धार कर देता हूँ। इसमें विलम्बका काम नहीं, मैं शीघ्र ही उसका उद्धार कर देता हूँ। केवल एक ही शर्त है कि मन मुझमें लगा दो। भगवान् साफ कहते हैं—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥ (गीता १२। ८)

मुझमें मनको लगा और मुझमें ही बुद्धिको लगा; इसके उपरान्त तू मुझमें ही निवास करेगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है।

भगवान् मन और बुद्धिके दो विभाग करके कहते हैं कि तू मनको भी मेरेमें लगा दे और बुद्धिको भी मेरेमें लगा दे। उसके उपरान्त तू मुझे ही प्राप्त होगा, इसमें कोई शंकाकी बात नहीं। गीताके वचन साक्षात् भगवान्‌के मुखसे निकले हुए वचन हैं। इन बातोंको ध्यानमें रखकर हमारा कर्तव्य मन-बुद्धिको भगवान्‌में लगाना है। बुद्धिके द्वारा परमात्माके स्वरूपको समझना चाहिये कि परमात्मा ऐसे हैं, क्योंकि '**बुद्धिग्राह्यं अतीन्द्रियम्**' वह इन्द्रियोंसे नहीं पकड़ा जाता है, बुद्धिके ही ग्रहणमें आता है। बुद्धिके द्वारा परमात्माका जो स्वरूप समझमें आता है बस उसीमें अपने मनको लगा देना। बुद्धिसे परमात्माके स्वरूपको समझना और उसमें मन लगा देना यानि मन और बुद्धिको भगवान्‌में प्रवेश करना है। यह बात गीतामें भगवान्‌ने जगह-जगह कही है। "**मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्**" मेरेमें मन और बुद्धिको अर्पण करनेवाले मेरेको ही प्राप्त होते हैं इसमें कोई संशय नहीं है।

भगवत्स्मृतिकी महिमा

जिसका परमात्मामें ध्यान लग गया, उसने सब देवताओंकी पूजा कर ली, सब तीर्थ कर लिये, सारी पृथ्वीका दान दे दिया, सबका कल्याण कर दिया भगवान्‌के ध्यानकी ऐसी महिमा है। इसी प्रकार भगवान्‌के नाम-जपकी महिमा है। एक तरफ एक क्षण भगवान्‌के नामका जप और दूसरी तरफ त्रिलोकीका राज्य है तो उस एक क्षणके नाम-जपके सामने त्रिलोकीका राज्य भी कुछ नहीं है, क्योंकि अगर हम भगवान्‌के नामको याद करते हुए मर गये तो हमारी आत्माका उद्धार हो गया। यदि परमात्माके स्वरूपमें हमारा ध्यान लग गया और उसी वक्त हमारी मृत्यु हो गयी तो ब्रह्मकी प्राप्ति हो गयी और यदि संसारका राज्य करते हुए हमारी मृत्यु हुई तो हमें क्या मिला? यह राज्य तो मिथ्या है, स्वप्नवत् है, मायामात्र है और ब्रह्मके स्वरूपमें स्थिति रहते हुए हमारी मृत्यु हो जाय तो बेड़ा पार है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥

(गीता २। ७२)

हे अर्जुन! यह ब्रह्मको प्राप्त पुरुषकी स्थिति है, इसको प्राप्त होकर योगी कभी मोहित नहीं होता और अन्तकालमें भी इस ब्राह्मी स्थितिमें स्थित होकर ब्रह्मानन्दको प्राप्त हो जाता है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

(गीता २। ६९)

सारे भूतोंकी यह निशा अर्थात् रात्रि और रात्रिके तुल्य यह संसार और इसके विषयभोग, ये स्वप्नवत् हैं। जिन्होंने संसारसे मन, बुद्धि, इन्द्रियोंका संयम कर लिया है और परमात्मामें लगा दिया है उसको संयमी कहते हैं। उस महात्माके लिये जिनकी परमात्मामें स्थिति है यह संसार स्वप्नवत् है, इस संसारसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। संसारके

जिन विषय भोगोंमें ये प्राणिमात्र जागते हैं यानी विषयोंका उपभोग करते हैं ये विषय भोग ज्ञानी मुनिके लिये रात्रिके समान हैं। सारे भूतोंकी जो निशा है जिसमें सारे भूत प्राणी सोते हैं, यानी सारे भूत प्राणियोंको उस परमात्माके स्वरूपका ज्ञान ही नहीं है। परमात्माके स्वरूपका जिनको बिलकुल ज्ञान नहीं है, वे पशुके समान हैं। उस परमात्माके स्वरूपमें वे संयमी जागते हैं यानी उनका अनुभव करते हैं। ब्रह्मके स्वरूपका अनुभव करना जागना है। ब्रह्मके स्वरूपमें जिनकी स्थिति है, परमात्माके स्वरूपका जिन्हें ध्यान है यह ब्राह्मी स्थिति है। उस ध्यानमें जो मर जाय यानी अन्तकालमें ऐसी स्थिति हो जाय और ऐसी स्थितिमें उसके प्राण चले जायँ, वे निर्वाण ब्रह्मको यानि साक्षात् परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं। भगवान् कहते हैं—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

(गीता ८। ५)

जो अन्तकालके समय भी मुझको ही याद करता हुआ जाता है वह मेरे भाव या मेरे स्वरूपको प्राप्त हो जाता है, इसमें कोई भी शंकाकी बात नहीं। विचार करना चाहिये कि हम परमात्माके नामका या स्वरूपका स्मरण कर रहे हैं उस समय हमारे प्राण चले गये तो हमारा काम बन गया और यदि संसारका स्मरण करते हुए गये तो हमारी दुर्गति होगी; क्योंकि भगवान् कहते हैं—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

(गीता ८। ६)

मनुष्य जिस-जिस भावका स्मरण करता हुआ—याद करता हुआ, जिस-जिस स्वरूप या योनिको याद करता हुआ जाता है उसी-उसीको

प्राप्त हो जाता है। सदा जिस भावसे भावित हुआ यानी जिस प्रकारका सदा अभ्यास करता है उसीके अनुसार मरनेके समय उसी भावसे भावित हुआ उसीको प्राप्त हो जाता है। इससे यह बात सिद्ध हुई कि मरनेके समय जैसा भाव होता है उसीके अनुसार भावी जन्म होता है। परमात्माकी स्मृति होती है तो परमात्माको प्राप्त होता है, देवताकी स्मृति होती है तो देवताको प्राप्त होता है और मनुष्यकी स्मृति होती है तो मनुष्यको प्राप्त हो जाता है। इसी सिद्धांतको लेकर भगवान् कहते हैं '**तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर**'—हे अर्जुन! तू सब कालमें मेरा स्मरण कर; क्योंकि तू सब कालमें मेरा स्मरण करेगा तो तू मुझको प्राप्त हो जायगा और दूसरेको याद करेगा तो दूसरेको प्राप्त हो जायगा। इससे यह सिद्धान्त सिद्ध हो गया कि अगर क्षणमात्र भी भगवान्‌का स्मरण करें तो हमें उस क्षणमात्रसे भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है। न जाने किस क्षण हमारे प्राण जायँ इसका हमें पता नहीं। अतः हमें हर वक्त भगवान्‌को याद करना चाहिये। हम भगवान्‌को क्यों छोड़ें? अगर हम एक क्षण भी भगवान्‌को भुलायें तो महान् हानि है। इसीलिये शास्त्र, वेद और महात्मा लोग कहते हैं कि तुम यदि चेत जाओगे तो तुम्हारे लिये महान् लाभ है। अन्यथा महान् हानि है। बादमें पश्चात्ताप करनेसे फिर कोई लाभ नहीं है। पश्चात्ताप करनेसे वह चीज कभी वापस नहीं आती। लड़का मर जाता है उसके लिये रोनेसे क्या लाभ है? अपनी प्रिय-से-प्रिय स्त्री, या पुरुष मर जाय तो मरनेके बाद रोनेसे वह चीज लौटकर वापस नहीं आनेवाली है। इसी प्रकार यहाँसे विदा होनेके बाद यह मनुष्य शरीर हमें मिलनेवाला नहीं है। इसलिये जबतक यह मनुष्य शरीर हमारे अधिकारमें है तबतक इससे अधिक-से-अधिक लाभ उठा लेना चाहिये। यही बुद्धिमानी है, यही समझदारी है।

संसारभरमें सम्पूर्ण विश्वमें अध्यात्मविषयमें गीताके समान कोई ग्रन्थ नहीं है। गीता सबसे बढ़कर है यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है

दूसरे धर्मोंमें ऐसी कोई पुस्तक है ही नहीं; बल्कि हमारे हिंदू धर्म, आर्य धर्म जो सनातन वैदिक धर्म है,-में भी गीताके समान कोई पुस्तक नहीं है। इसी बातका खयाल करके ऋषियोंने कहा है **'सर्वशास्त्रमयी गीता'**—गीता सर्वशास्त्रमयी है माने सारे शास्त्रोंका सार है और वेदव्यासजीने भीष्म पर्वमें गीताका उपदेश देनेके बाद यह बात कही है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥

गीताके अठारहवें अध्यायके बादके अध्यायमें यह श्लोक मिलता है। गीताको सुगीता करना कर्तव्य है। **'सुगीता'** का तात्पर्य यह है कि अच्छी प्रकारसे इसका अनुभव करना चाहिये। इसका गायन करना चाहिये। गीताका गायन अच्छी तरहसे करना चाहिये, क्योंकि गीता छंदबद्ध होनेसे गानेकी भी चीज है, पद बहुत ही सुंदर है, गीताकी संस्कृत भी बहुत ही सरल और मधुर है, भावयुक्त है और भगवान्‌की वाणी है। भगवान् योगियोंके योगी, कवियोंके कवि, विद्वानोंके विद्वान् तेजस्वियोंमें भी तेजस्वी, सबसे श्रेष्ठ हैं। भगवान्‌के समान दुनियामें और कोई नहीं है, भगवान् ही हैं। यह स्वयं भगवान्‌के मुखसे कही गयी है इसलिये इसका अध्ययन अच्छी प्रकारसे करना चाहिये, इसका गायन करना चाहिये। गीताके उच्चारणके समय खूब प्रेममें विभोर होकर, मुग्ध होकर इसका गायन करना चाहिये। हमलोग गीताका जो गायन करते हैं, वह साधारण रूपसे करते हैं, श्रद्धा और प्रेमसे विह्वल होकर नहीं करते। अन्यथा भगवान्‌को प्रकट होना चाहिये। जहाँ गीताके प्रेममें मुग्ध होकर मनुष्य गीताका गायन करता है वहाँ भगवान्‌को प्रकट होना पड़ता है।